ISSN 0972-1002

श्रमण
ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIII No.IV October-December 2012

Caṇḍakauśika Pratibodha

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAṆA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIII No. IV October-December 2012

Joint Editor

Dr. Shriprakash Pandey

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Established: 1937)

(Recognized by Banaras Hindu University as an External Research Centre)

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain
Chairman, New Delhi
Prof. Cromwell Crawford
Univ. of Hawaii
Prof. Anne Vallely
Univ. of Ottawa, Canada
Prof. Peter Flugel
SOAS, London
Prof. Christopher Key Chapple
Univ. of Loyola, USA
Prof. Ramjee Singh
Bheekhampur, Bhagalpur
Prof. Sagarmal Jain
Prachya Vidyapeeth, Shajapur
Prof. K.C. Sogani
Chittaranjan Marg, Jaipur
Prof. D.N. Bhargava
Bani Park, Jaipur
Prof. Prakash C. Jain
JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari
B.H.U., Varanasi
Prof. K. K. Jain
B.H.U., Varanasi
Dr. A.P. Singh, Ballia
Prof. Gary L. Francione
New York, USA
Prof. Viney Jain,
Gurgaon
Prof. S. L. Jain, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership	*Life Membership*
For Institutions : Rs. 500.00, $ 50	For Institutions : Rs. 5000.00, $ 250
For Individuals : Rs. 150.00, $ 30	For Individuals : Rs. 2000.00, $ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, $ 10

Membership fee & articles can be sent in favour of Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890

Email:
pvpvaranasi@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Theme of the Cover : Caṇḍakauśika Pratibodha Episode

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

Contents

From Chairman's desk	**v-vi**
1. पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का विकास (परमार वंश के विशेष संदर्भ में) डॉ. रविशंकर गुप्ता	1-6
2. ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा- जैनदर्शन का वैशिष्ट्य डॉ. अल्पना जैन	7-17
3. लोकानुप्रेक्षा में वास्तुविद्या सतेन्द्र कुमार जैन	18-37
4. तत्त्व विद्या के त्रिआयामी आधार–जीव, जगत् एवं उनका अन्तःसम्बन्ध डॉ. रामनेरश जैन	38-48
5. **WHO WERE THE ORIGINAL 'KṢATRIYAS'?** **Capt. Vimal Jain**	49-53
6. **BHAKTI IN JAIN TRADITION** **Dr. Kamini Gogri**	54-63
7. **JAIN PHILOSOPHY OF REALITY : A CRITICAL STUDY** **Dr. Samani Shashi Prajna**	64-87
स्थायी स्तम्भ	
पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	88-90
साहित्य-सत्कार	
पुस्तक-समीक्षा	91-92
साभार-प्राप्ति	93-94

Our Contributors

Dr. Ravi Shankar Gupta
Assistant Professor
Ganga Singh Mahavidyalaya, South Patkhauli
Maniyar, Baliya, (U.P.)

Dr. Alpana Jain (Senior Lecturer)
Department of Prakrit Language
Shri Lal Bahadur Shastri Sanskrit Vidyapeeth, New Delhi

Satendra Kumar Jain
C/O Shri Jitendra Kumar Jain
66/179, V.T. Road, Mansarovar, Jaipur (Raj.)

Dr. Ramnaresh Jain
Senior Reaserch Associate
Sanskrit & Prakrit Department
Jain Vishwa Bharati University, Ladnun. (Raj.)

Gp. Capt. V. K. Jain (Rtd.)
572, Asiad Village
New Delhi-110049

Dr. Kamini Gogri
Co-ordinator Jainology, Indian Aesthetics, Communal Harmony
and Social Peace, Department of Philosophy
University of Mumbai - 400019 (Mah.)

Dr. Samani Shashi Prajna
Assistant Professor
Department of Jainology, Comparative Philosophy & Religion
Jain Vishwa Bharati University, Ladanun (Raj.)

From Chairman's desk

The cover picture of this issue depicts '**The Caṇḍakauśika-Pratibodha Episode.**' This very episode is based on a story of Caṇḍakauśika, who in previous birth was a monk died in a fit of anger and was born as Cobra in his present life. He was so dangerous that anything coming within the sphere of his vision succumbed to death due to the extremely poisonous nature of the venom he emitted. Therefore no one dared to cross the forest which was its habitat. Bhagavāna Mahāvīra knew this by His divine knowledge. Thus to enlighten Caṇḍakauśika by His universal love and make the residents of the area fearless, He entered the forest and stood motionless in meditation near the place where Caṇḍakauśika resided. The proud Caṇḍakauśika (the king-cobra) hissing blind with rage bit him on His toe. But milk-like blood started flowing from the toe of Mahāvīra. Bhagavāna cast a gentle glance and said, 'O Caṇḍakauśika! Try to be enlightened and attain peace of mind.' The words had magic effect and Caṇḍakauśika repenting on his past sins renounced violence.

I am happy to present this issue of *Śramaṇa* in time. Also I am glad to inform you that we are now getting a regular flow of articles from Jain scholars for publication in *Śramaṇa*. To further encourage the scholars to write topical papers, we have planned to bring out four issues of *Śramaṇa* in 2013, each dedicated to a specific area of academic interest (theme based) namely Jain History, Society and Culture, Philosophy, Ethics and applications to modern day life. The request has been sent to concerned scholars inviting their articles. The same is again included in this issue of *Śramaṇa* for your perusal. I again request to those scholars who have not yet sent their articles for the proposed volumes.

I am also glad to inform you that Parshwanath Vidyapeeth and International School for Jain Studies (ISJS) who are committed to promote Jain studies, are now offering a unique opportunity to scholars globally to utilize the excellent facilities of Parshwanath Vidyapeeth for their research work. An announcement to this effect is also presented in this issue. Also we are planning to start a Working Papers journal for scholars to write their papers and have them published in this journal prior to their printing in *Śramaṇa*. Please do give your esteemed comments about the papers published in *Śramaṇa* as well as ideas to enhance its utility.

Shugan C. Jain
Chairman, Advisory Board, Śramaṇa

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का विकास

(परमार वंश के विशेष संदर्भ में)

डॉ0 रविशंकर गुप्ता

*पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में पोषित धर्मों में जैन धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस काल-क्रम में प्राप्त विभिन्न अभिलेख, शिलालेख और साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि जैनधर्म के विकास में राजपूत राजाओं, विशेषकर परमार वंश के शासकों का अभूतपूर्व योगदान था। विद्वान् लेखक ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विकास को रेखांकित करने का प्रयास किया है। -**सम्पादक***

राजस्थान की सांस्कृतिक धारा में जैन धर्म एक महत्त्वपूर्ण क्रियाशील धार्मिक शक्ति रहा है। जैन धर्म की परम्पराओं, प्राचीन अभिलेखों और साहित्यिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि राजस्थान प्रदेश में जैन धर्म व्यापक रूप से प्रचलित था। पूर्व मध्य काल को हम राजपूत काल के नाम से भी जानते हैं। इस काल में राजपूतों के उत्कर्ष से ही इस भू-प्रदेश में जैन मत बहुत समृद्ध और लोकप्रिय हुआ। यद्यपि किसी राजपूत राजा के जैन मतावलम्बी होने का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है, लेकिन किसी जैन मत विरोधी शासक का उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता है। मूलत: शैव या वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी, विभिन्न राजपूत शासक धर्म-सहिष्णु और जैन मत के उदार संरक्षक थे। 'श्वेताम्बर सम्प्रदाय' जैन धर्म का एक प्रमुख भेद है जिसने देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार जैन धर्म के नियमों और विधि-विधानों को प्रासंगिक बनाकर अपने अनुयायियों में लागू किया।

राजस्थान के राजपूत राजाओं में परमार वंश के राजा अपनी वीरता और धार्मिक सहिष्णुता के लिए जाने जाते हैं। परमार शासकों ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उन्नति में अत्यधिक योगदान दिया था। परमार वंश की कई शाखाएं अस्तित्व में थीं। उनमें से एक शाखा चन्द्रावती में स्थापित हुई जिसे हम चन्द्रावती और अर्बुद परमार के रूप में जानते हैं। इस वंश का पहला ऐतिहासिक व्यक्ति कृष्णदेव अथवा कन्हदेव था।[1] एक अभिलेख[2] से हमें सूचना मिलती है कि राजा कृष्णदेव कृष्णराज के रूप में भी जाना जाता है। वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रति उदार

भाव रखता था। यह अभिलेख तीर्थंकर शांतिनाथ के मन्दिर में एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यह मंदिर सिरोही क्षेत्र के माउण्ट आबू के निकट दियाणा गांव में स्थित है। ऐतिहासिक दृष्टि से दियाणा का यह अभिलेख महत्त्वपूर्ण है। यह कृष्णराज परमार का समय निश्चित करने के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत है। कृष्णराज आबू के परमार राजवंश में उत्पलराज का पौत्र एवं अरण्यराज का पुत्र था। दियाणा अभिलेख पर 967 ई0 की तिथि अंकित है। इस अभिलेख में महावीर की मूर्ति की स्थापना हुई है।[3]

धरणीवराह 995 ई0 में कृष्णराज का उत्तराधिकारी बना। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार धरणीवराह का सम्बन्ध मूलराज से था। अनेक युद्धों में दोनों साथ-साथ शामिल थे। उसके पश्चात् राजा महिपाल उर्फ देवराज 1002 ई0 में राज सिंहासन पर बैठा। कालान्तर में धन्धुक उसका उत्तराधिकारी हुआ। धन्धुक, चौलुक्य राजा भीम प्रथम द्वारा पराजित हुआ। उसने धारा के राजा भोज के यहाँ शरण लिया। यह उल्लेख एक शिलालेख में हुआ है।[4] कुछ अभिलेख माउण्टआबू के विमल मन्दिर से मिले हैं। अभिलेखों की तिथि 1321 है। अभिलेखों से सूचना मिलती है कि राजा भीम प्रथम के दण्डपति प्राग्वाट विमल ने इस नए क्षेत्र का शासन सूत्र सम्भाला। दण्डपति ने 1031 ई0 में पर्वत के शिखर पर ऋषभदेव के मन्दिर का निर्माण कराया था। अभिलेख यह सूचना देता है कि परमारों को हमेशा के लिए अर्बुद क्षेत्र से निकाला नहीं जा सका। कालान्तर में वे चौलुक्य राजाओं के तालुकेदार के रूप में शासन किए।

धारावर्ष चौलुक्य राजा कुमारपाल का तालुकेदार था। उसके मन में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रति अगाध भक्ति थी। झाड़ोली के महावीर जैन मन्दिर के 1197 ई0 के शिलालेख[5] से ज्ञात होता है कि परमार राजा धारावर्ष की रानी श्रृंगार देवी ने मन्दिर निर्माण हेतु भूमि दान दी थी। कासिन्द्रा के जैन मन्दिर के 1034 ई0 के लेख में भीनमाल की समृद्धि और प्राग्वाट वैश्यों के बाहुल्य का उल्लेख है।[6] सिरोही जिले के आरासन नामक स्थान से एक अभिलेख मिला है। यह अभिलेख मण्डलेश्वर श्री धारावर्ष के शासन काल का है। इसकी तिथि 1219 ई0 निश्चित है। इसमें तीर्थंकर सुमतिनाथ की प्रतिमा की स्थापना की सूचना मिलती है। जैन ग्रंथ ज्ञाताधर्मकथा तथा रत्नचूड़कथा का पुनर्लेखन कार्य राजा धारावर्ष के शासन काल में 1164 ई0 में सम्पन्न हुआ।[7] राजा धारावर्ष का उत्तराधिकारी उसका अनुज प्रहलादन देव हुआ। प्रहलादन देव भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रति उदार था। प्रबंधकोश तथा पुरातनप्रबंधसंग्रह से सूचना मिलती है कि प्रहलादनदेव चौलुक्य राजा कुमारपाल के साथ धार्मिक यात्राएँ किया था।[8]

परमार वंश की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा मालवा में शासन कर रही थी। इसकी राजधानी धारा नगरी थी। मालवा के परमार शासकों ने भी जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाया। इस वंश का पहला ऐतिहासिक व्यक्ति वैरिसिंह था। यह वज्रट् स्वामी भी कहलाता था।[9] वैरिसिंह का उत्तराधिकारी सीयक हुआ। सम्भवतः सीयक ने अपने राज्य में जैन कवि धनपाल को संरक्षण दिया। धनपाल ने 972 ई0 में अपना काव्यग्रंथ 'पायक्षीमल' को पूरा किया।

सीयक के पश्चात् उसका पुत्र वाक्पतिराज 'मुंज' 973 ई0 में परमार राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।[10] मुंजराज सीयक का औरस पुत्र न होकर पाल्य पुत्र था। लगता है कि मुंजराज नाम की व्याख्या करने के उद्देश्य से यह अनुश्रुति प्रचलित हो गयी कि मुंजों के झुरमुट में फेंके हुए नवजात शिशु को सिंहदन्तभट्ट अर्थात् सीयक ने देखा और स्वयं अपुत्रक होने के नाते उसे उठा लिया, अपनी पुत्र पिपासा शान्त करने के लिए उसे प्रेम से पाला-पोसा और अन्त में अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।[11] मुंज के दरबार में प्रसिद्ध कवि धनपाल ने संरक्षण पाया। धनपाल द्वारा रचित 'तिलकमंजरी' में उल्लेख है कि राजा मुंज ने इस कवि को 'सरस्वती' नामक उपाधि प्रदान किया था।[12] 'तिलकमंजरी' में परमार वंश की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। यहाँ उनकी उत्पत्ति वशिष्ठ के आबू के यज्ञ कुण्ड से बताई गई है।[13] मुंज के दरबार में अन्य कवियों ने भी राजाश्रय प्राप्त किया। इनमें अमितगति ने 'सुभाषित रत्न संदोह', पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांक चरित' की रचना की। धनपाल का छोटा भाई शोभन भी मुंज के दरबार में रहता था। उसने 'चतुर्विंशिका स्तुति' नामक ग्रंथ की रचना की थी।[14] धनपाल का निधन सम्भवतः 994-97 ई0 में हुआ।[15] इसके पश्चात् सिन्धुराज राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। सिन्धुराज ने अल्पकाल तक शासन किया तत्पश्चात् भोज सत्तासीन हुआ।

भोज परमार वंश का अत्यन्त प्रतिभाशाली शासक था। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक इसके राज्यारोहण की तिथि 1010 ई0 स्वीकार करते हैं।[16] वह अनेक विद्वानों का आश्रयदाता भी था। कवि धनपाल प्रारम्भ से ही उसके दरबार में रहा। धनपाल ने राजा भोज को प्रसन्न करने के लिए 'तिलकमंजरी' की रचना किया।[17] राजा भोज स्वयं भी एक महान् विद्वान् था तथा उसने विभिन्न विषयों पर दो दर्जन ग्रंथों की रचना की। वह एक सहिष्णु राजा था। वह जैन आचार्यों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता था। एक अभिलेख से सूचना मिलती है कि राजा भोज जैन साधु प्रभाचन्द्र के चरणों की पूजा करता था।[18]

एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि जैन उपदेशक शांतिसेन ने राजा भोज के दरबार के उन सभी विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया था जो जैन उपदेशों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे।[19] राजा भोज तथा जैन कवि ध नपाल के बीच में विभिन्न धार्मिक विषयों पर होने वाले वार्त्तालापों का विवरण मिलता है।[20]

राजा भोज के बाद परमार वंश का प्राचीन गौरव नष्ट होने लगा। अन्त में परमार वंश का राज्य चौलुक्य साम्राज्य के अधीनस्थ हो गया। यह कार्य चौलुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज के शासनकाल में सम्भवत: 12वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। चौलुक्य राजा कुमारपाल के समकालीन बल्लाल का शासन अवन्ति (मालवा) राज्य पर था।[21] कई साक्ष्य कुमारपाल की ओर से बल्लाल को मार डालने का दावा करते हैं। वडनगर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मालवराज का सिर कुमारपाल के महल के दरवाजे पर टांग दिया गया।[22] भोज के उत्तराधिकारी परमारों के प्राचीन गौरव की रक्षा नहीं कर सके। भोज की मृत्यु (1055 ई0) के बाद परमार राज्य आन्तरिक संघर्षों और बाहरी आक्रमणों का शिकार होने लगा।[23] परमार वंश के अन्तिम समय के कुछ राजाओं के नाम मिलते हैं। विन्ध्यवर्मन 1175ई0-1194ई0 में मालवा पर पुन: विजय कर परमार सत्ता को पुनर्जीवित किया।[24] समुद्रवर्मन एवं अर्जुनवर्मन भी भोज की परम्परा में आते हैं। इन्होंने विद्वानों को दरबार में आने के लिए प्रेरित किया। जैन कवि आशाधर इनके दरबार में रहते थे। 'पारिजात मंजरी' से ज्ञात होता है कि आशाधर नालकच्छपुर में निवास करते थे। अर्जुन वर्मन के उत्तराधिकारी देवपाल के शासन काल में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'जिनयज्ञकल्प' को पूर्ण किया। देवपाल के उत्तराधिकारी जयतुगी देव के शासनकाल में अपने दो ग्रंथों -'सागारधर्मामृत' तथा 'अनगार धर्मामृत' की रचना किया। उसने जैन धर्म पर आधारित एक अन्य ग्रंथ 'कर्मविपाकतिका' की रचना नालकच्छपुर में 1238 ई0 में किया। यह स्थान महान् विद्यापीठ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसने अनेक जैन विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया।[25]

मालवा के परमार शासकों में एक नाम नरवर्मन का मिलता है। वह शैव धर्म का अनुयायी होते हुए भी जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु था। जैन आचार्य जिनवल्लभ सूरि के प्रति वह काफी आस्थावान था। खरतरगच्छ की परम्परा से ज्ञात होता है कि नरवर्मन के दरबार में दो दक्षिणात्य ब्राह्मण एक समस्या के समाधान हेतु मालवा आए थे। मालवा के विद्वान् उस समस्या का सन्तोषप्रद हल नहीं निकाल सके। अत: राजा ने उन ब्राह्मणों को जिनवल्लभ सूरि

के पास चित्तौड़ भेज दिया, जिन्होंने तुरन्त सन्तोषप्रद हल निकाल दिया। जब जिनवल्लभ सूरि मालवा नगरी आए तो राजा नरवर्मन ने उनको राजमहल में आमंत्रित किया तथा उनके धार्मिक प्रवचनों को ध्यानपूर्वक सुना। राजा उनकी विद्वत्ता से इतना प्रसन्न हुआ कि आचार्य को तीन गाँव या 30 हजार द्रमदान देने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु आचार्य ने इनमें से किसी को स्वीकार नहीं किया। सूरि जी के उपदेशों से प्रभावित होकर नरवर्मन ने चित्तौड़ की मंडपिका से वहाँ के खरतरगच्छ के मन्दिरों के देखभाल के लिए प्रतिदिन दो द्रम दिए जाने के आदेश दिए।[26]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रति वागड़ शाखा भी समर्पित थी। अर्थूणा के जैन मन्दिर की 1109ई0 की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इस समय वागड़ क्षेत्र परमारों के अधीन था।[27] यह अभिलेख माण्डलिक चामुण्डराज तथा उसके पुत्र विजयराज के बारे में बताता है। अभिलेख में एक जैन मन्दिर के बारे में वर्णन है। इस जैन मन्दिर की स्थापना 1109ई0 में अर्थूणा नामक नगर में हुई थी। इस अभिलेख में तलपाटक नामक नगर में निवास करने वाले एक जैन परिवार का सविस्तार वर्णन है। इस परिवार के वंशजों ने ऋषभनाथ के मन्दिर का निर्माण कराया था। इस परिवार का एक सदस्य 'पाहुक' शास्त्रों के ज्ञान में निपुण था।[28] बाद में वह एक संन्यासी हो गया। राजपूताना म्यूजियम के एक मूर्तिलेख (994ई0) में 'जयति श्री वागट संघ' उल्लिखित है।[29] इस प्रकार दसवीं शताब्दी में वागड़ क्षेत्र में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का काफी प्रचार था।

परमार वंश की एक शाखा किराडु हुई थी। यह राजस्थान के जोधपुर में स्थित थी। एक अभिलेख से सूचना मिलती है कि इस वंश का अन्तिम राजा सोमेश्वर परमार था, जो चौलुक्य कुमारपाल के अधीन तालुकेदार था।[30] अभिलेख के प्रारम्भ में 'ओम् नमः सर्वज्ञः' उत्कीर्ण है। इसी कारण कुछ लोग इसे जैन अभिलेख बताते हैं लेकिन यह प्रमाणित नहीं है। कुमारपाल जैन धर्म के भद्र एवं अनुयायी राजा के रूप में जाना जाता था। चूँकि सोमेश्वर राजा कुमारपाल के अधीनस्थ था, अतः वह अपने राजा के विपरीत भाव जैन धर्म के प्रति नहीं रखता होगा। यही बात परमार वंश के अन्य राजाओं के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है क्योंकि वे सभी चौलुक्य सम्राट के अधीनस्थ शासक थे।

उपर्युक्त विवरण परमारकालीन राजस्थान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की विकासमान स्थिति को दर्शाते हैं।

सन्दर्भ :

1. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज (डॉ0 गुलाब चन्द्र चौधरी, सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1963), पृ0 186-187
2. अर्बुद प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग-5, पृ0 168
3. विष्थित कुले गोष्ट्ठया श्री वर्द्धमानस्य कारितम सुरूपम् मुद्रया बिम्बम् कृष्णराजे महिपते।
4. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग-9, पृ0 148-158
5. अर्बुदांचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह, क्र0 311
6. श्री जैन तीर्थ सर्वसंग्रह, भाग-1, खण्ड-2, पृ0 261
7. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ0 191-192
8. पूर्वोक्त, पृ0 193
9. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास : डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक, उ0प्र0 हिंदी संस्थान, लखनऊ,1982, पृ0 562
10. पूर्वोक्त, पृ0 566
11. पूर्वोक्त, पृ0 567
12. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ0 88।
13. तिलकमंजरी पद्य - 39
14. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0 574
15. पूर्वोक्त, पृ0 573
16. पूर्वोक्त, पृ0 580
17. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ0 88
18. पूर्वोक्त, पृ0 107
19. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग-2, पृ0 239
20. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ0 108।
21. पूर्वोक्त, पृ0 113
22. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ0 534
23. पूवोक्त, पृ0 597
24. पूर्वोक्त, पृ0 606
25. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ0 118
26. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, पृ0 13
27. बॉसवाड़ा राज्य का इतिहास, जी0 एच0 ओझा, अजमेर, 1937, पृ0 35
28. वही, करण-चरण रूपानेक-शास्त्र प्रवीण:
29. डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ0 1
30. अर्बुद प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग-1, पृ0 251-253

****

ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा - जैनदर्शन का वैशिष्ट्य

डॉ. अल्पना जैन

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों अपने-अपने स्वरूप में परिपूर्ण होने के कारण निरपेक्ष हैं। ज्ञान स्वयं के साथ-साथ पर को भी प्रकाशित करता है। इस सन्दर्भ में प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की व्याख्या करते हुए जैनदर्शन यह मानता है कि वस्तुमात्र में प्रमेयत्व नामक एक सामान्य गुण होता है जिसके कारण वह प्रमा का विषय बनती है। यदि इसमें यह सामान्य गुण न हो तो कथमपि उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। ज्ञान सत्, सहेतुक, निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता वाला होता है। उसकी सत्ता ज्ञेयों के अधीन नहीं है। जैनदर्शन की इसी विशिष्ट प्रस्तुति अर्थात् वस्तु की अस्तित्वात्मक, क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक स्वतंत्रता को लेखक ने अपने लेख में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। ***-सम्पादक***

जैनदर्शन में मान्य ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा विश्व में विद्यमान जड़ चेतनात्मक पदार्थों की स्वतंत्रता को अपने नूतन स्वरूप में प्रस्तुत करती है। सामान्यतः दार्शनिक चिंतन में यह माना जाता है कि कोई भी वस्तु पूर्ण अथवा चरम स्वतंत्रता तभी प्राप्त करती है जब उसमें अस्तित्वात्मक, क्रियात्मक व ज्ञानात्मक स्वतंत्रता हो। अस्तित्वात्मक व क्रियात्मक स्वतंत्रता प्रायः समस्त जड़-चेतन वस्तुओं में स्वीकार कर ली जाती है, किन्तु जब ज्ञानात्मक स्वतंत्रता की बात उठती है तो वह केवल चेतन जगत् तक ही सीमित रह जाती है। दार्शनिक जगत् में ज्ञानात्मक स्वतंत्रता वैसी सत्ता पर लागू की जा सकती है जो स्वयं प्रकाश अथवा स्वसंवेद्य हो। इस दृष्टि से संसार की वस्तुओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में जड़ पदार्थ जो अपने ज्ञान के लिए ज्ञाता पर निर्भर करते हैं, दूसरे वर्ग में चेतन पदार्थ जो दूसरे को जानने के साथ-साथ स्वयं के ज्ञान से भी युक्त होते हैं; एवं तीसरा वर्ग स्वयं प्रकाश तत्त्व का हो सकता है, उदाहरणार्थ- अद्वैत वेदान्त में आत्मा और बौद्ध दर्शन में विज्ञान ऐसा ही तत्त्व है। अब यदि जैनदर्शन की दृष्टि से ज्ञानात्मक स्वतंत्रता पर विचार किया जाये तो चेतन द्रव्यों को तो ज्ञानात्मक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है, क्योंकि उन्हें स्व-पर प्रकाशक माना गया है, फिर भी जड़ वस्तुओं में ऐसी स्वतंत्रता संभव नहीं दिखाई देती है, परन्तु जैनदर्शन की यहाँ एक अपूर्व विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है वह यह है कि वह वस्तुमात्र में 'प्रमेयत्व' नामक सामान्य गुण की सत्ता को स्वीकार करता है।[1] प्रमेयत्व गुण के कारण ही अचेतन वस्तुओं में भी ज्ञानात्मक स्वतंत्रता निहित हो जाती है। वह इस प्रकार है कि अचेतन वस्तुयें यद्यपि स्वयं प्रकाशमान नहीं होतीं

लेकिन वे किसी चेतन तत्त्व के कारण भी प्रकाशित नहीं होती हैं। यदि उनमें अन्तर्निहित प्रमेयत्व या ज्ञेयत्व गुण को स्वीकार न किया जाये तो चेतन तत्त्व की विद्यमानता में भी वे प्रकाशित नहीं हो सकती हैं। अतः वस्तुमात्र में ज्ञेय बनने की जो सामर्थ्य है वही उनकी ज्ञानात्मक स्वतंत्रता है। विश्व की समस्त जड़-चेतनात्मक वस्तुयें अपने स्वसामर्थ्य से प्रकाशमान होती हैं या अन्य को प्रकाशित करती हैं, उनकी सत्ता अन्य किसी के ज्ञान पर निर्भर नहीं है। यहाँ पर हम उक्त विषय के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार करेंगे-

विश्व में विद्यमान छः द्रव्यों में से एक जीव द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अचेतन अर्थात् अजीव हैं। जीव द्रव्य में पाया जाने वाला 'ज्ञानगुण' उसकी ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य द्रव्यों से तथा अपने में ही पाये जाने वाले अन्य गुणों से पृथक् सिद्ध करती है।

लोक में भी किसी एक विशेषता की अपेक्षा से किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने की पद्धति है जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व कर सके, जैसे- किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के नाम से सम्बोधित करते हैं। न्यायाधीशत्व उसकी ऐसी विशेषता है जिससे वह सब मनुष्यों से भिन्न पहचाना जाता है, यद्यपि उसमें अन्य सामान्य मनुष्यों जैसी व्यक्तिगत अपनी अनेक विशेषतायें भी हैं वह केवल न्यायाधीश ही नहीं है, किन्तु न्यायाधीश संज्ञा में उसका सम्पूर्ण सामान्य-विशेष व्यक्तित्व गर्भित हो जाता है अर्थात् वह व्यक्ति जितना कुछ है वह सब न्यायाधीशत्व में समाविष्ट है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा (जीव) के अनंत गुण धर्मों के समान यद्यपि जीव का एक गुण विशेष ही है, किन्तु उसके बिना जीव को पहचाना ही नहीं जा सकता। ज्ञान का व्यापार प्रगट अनुभव में आता है। ज्ञान न केवल आत्मा वरन् जगत् के अस्तित्व की सिद्धि करता है। ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है उसके बिना विश्व में आत्मसंज्ञक किसी चेतन तत्त्व की कल्पना ही व्यर्थ है, इसी कारण आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में आत्मा को 'ज्ञान मात्र' ही कहा है।[2]

ज्ञान का स्वरूप -ज्ञान का स्वभाव वस्तु का सर्वांग प्रतिभासन करना है, क्योंकि स्वभाव असहाय, अकृत्रिम एवं निरपेक्ष होता है। ज्ञान भी जगत् से पूर्ण निरपेक्ष एवं असहाय रहकर अपने जानने का व्यापार करता रहता है, अपने जानने के कार्य के संपादन हेतु उसे जगत् से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता है। ज्ञान का स्वभाव दर्पणवत है जिस प्रकार कि दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करता है। दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार

बनते व बिगड़ते रहते हैं, किन्तु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अप्रभावित रहता है साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आंच नहीं आती है। उदाहरणार्थ- दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित होती है किन्तु अग्नि के प्रतिबिम्ब से न तो दर्पण गर्म होता है और न ही टूटता है क्योंकि दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है वह दर्पण की स्वच्छता के कारण प्रतिबिम्बित होती है अथवा दर्पण के अपने प्रकाशत्व स्वभाव के कारण दिखाई देती है। दर्पण में प्रतिबिम्बित अग्नि की रचना के नियामक उपादान दर्पण के अपने स्वतंत्र हैं। वस्तुतः दर्पण के स्वच्छ स्वभाव में यदि अग्न्याकार परिणमन की शक्ति की योग्यता न हो तो सारा विश्व मिलकर भी उसे अग्न्याकार नहीं कर सकता और यदि स्वयं दर्पण में अग्न्याकार होने की शक्ति व योग्यता है तो फिर उसे अग्नि की क्या अपेक्षा है।[3]

'उक्तं च 'जो शक्तिशून्य है उसे शक्ति नहीं दी जा सकती और जो शक्तिमय है उसे अपनी शक्ति के प्रयोग में किसी की अपेक्षा नहीं होती।'[4] यदि दर्पण में प्रतिबिम्बित अग्नि का कारण बाह्य अग्नि है तो पाषाण में भी अग्नि प्रतिबिम्बित होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अग्नि की रचना की सम्पूर्ण सामग्री दर्पण के अपने अक्षय कोश में ही पड़ी है उसे किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता। यह ज्ञान का अपना अद्‌भुत स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है जिसके कारण जो बाह्य ज्ञेय ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है वह स्वयं उसके प्रकाशत्व सामर्थ्य के कारण प्रतिबिम्बित होता है ज्ञेय के कारण नहीं। जैसे-सूर्य जगत् को प्रकाशित अथवा स्वयं को प्रकाशित करे दोनों अवस्थाओं में वह प्रकाशमय ही है और दोनों अवस्थायें एक साथ ही हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी स्व व पर प्रकाशक है तथा दोनों अवस्थाएँ ज्ञान ही हैं।

ज्ञेय का स्वरूप - जिस प्रकार ज्ञान (पर की अपेक्षा से रहित) निरपेक्ष होकर वस्तु का अवलोकन करता है, उसी प्रकार ज्ञेय भी (जिसमें जड़ व चेतन समस्त वस्तुयें सम्मिलित हैं) अपने में निहित प्रमेयत्व गुण की शक्ति के कारण अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय बनने के सामर्थ्य के कारण सहज ही ज्ञान का विषय बन जाता है। अतः ज्ञेय स्वयं अपनी शक्ति सामर्थ्य के कारण ज्ञान का विषय बनता है उसे अपने का अवलोकन कराने (जनाने) के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार जड़ ज्ञेय वस्तुयें भी अपनी प्रमेयत्व शक्ति की धारक होने के कारण सहज ही ज्ञान का विषय बनती हैं। अतः अचेतन वस्तुयें भी पूर्ण स्वाधीन एवं स्वतंत्र हैं। जड़ वस्तु में ज्ञान में झलकने का सामर्थ्य है और ज्ञान में उन्हें झलकाने का स्वतंत्र सामर्थ्य है। ऐसी वस्तु की अपनी अद्‌भुत व स्वतंत्र व्यवस्था है।

ज्ञान व ज्ञेय में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव - जैनदर्शन ज्ञान व ज्ञेय में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध का निषेध करता है, क्योंकि उसकी मान्यता है कि यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञेय के होने पर ही ज्ञान हो और ज्ञेय के अभाव में ज्ञान न हो। इसी तरह ज्ञेय जैसा ज्ञान हो यह भी जरूरी नहीं है। आचार्य माणिक्यनन्दी ने इस सन्दर्भ में अपने न्यायग्रंथ ''परीक्षामुखसूत्र'' में पदार्थ अर्थात् ज्ञेय और प्रकाश ये ज्ञान के कारण हैं, इस सम्बन्ध का निषेध करते हुए युक्ति दी है कि- ''पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं, क्योंकि ज्ञान का पदार्थ और प्रकाश के साथ अन्वय व्यतिरेक रूप संबंध का अभाव है। जैसे केश अर्थात् बालों में भ्रम से होने वाले मच्छर ज्ञान के साथ तथा नक्तंचर अर्थात् रात्रि में चलने वाले उल्लू आदि को रात्रि में होने वाले ज्ञान के साथ देखा जाता है अर्थात् किसी पुरुष के उड़ते हुये केशों (बालों) में मच्छर का भ्रम एवं उल्लू को अंधकार में भी दिखाई देना यह बतलाता है कि पदार्थ व प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं है।''[5] पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के विषय हैं, जो विषय होता है, वह पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता, बल्कि ज्ञान के द्वारा जाना जाता है।

यदि ज्ञेय के कारण ज्ञान हो तो आकाश में गमन करना हुआ हवाई जहाज एवं एयरपोर्ट पर स्थित हवाई जहाज समान दिखाई देना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। अथवा आकाश में उड़ती हुई पतंग में कबूतर का भ्रम नहीं होना चाहिए।

इसी ग्रन्थ में आचार्य ज्ञान की अर्थजन्यता और अर्थकारकता का खण्डन करते हुए कहतें हैं कि पदार्थ से उत्पन्न नहीं होकर भी ज्ञान पदार्थ का प्रकाशक होता है- दीपक के समान। जैस-दीपक पदार्थ को मात्र प्रकाशित करता है, उत्पन्न नहीं करता।[6] कहा भी गया है- ''आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है इसलिए ज्ञान सर्वगत है- सर्वव्यापक है।''[7]

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहते हैं कि ''आत्मा (ज्ञान) और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्व (पृथक्-पृथक्) होने के कारण एक दूसरे में नहीं वर्तते, परन्तु उनमें मात्र नेत्र और रूपी पदार्थ की भाँति ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव सम्बन्ध होने से एक दूसरे में प्रवृत्ति पायी जाती है। जैस-नेत्र और उसके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारों को ग्रहण और समर्पण करने के स्वभाव वाले हैं उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण और समर्पण के स्वभाव वाले हैं।''[8]

जिस प्रकार आँख रूपवान पदार्थों में प्रवेश नहीं करती और रूपी पदार्थ आँख में प्रवेश नहीं करते तो भी आँख रूपी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को जानने के स्वभाव

वाली है और रूपी पदार्थ स्वयं जानने में आने के स्वभाव वाले हैं उसी प्रकार आत्मा समस्त ज्ञेयाकारों को जानने के स्वभाव वाला है और पदार्थ स्वयं ज्ञेयाकारों को समर्पित हो जाने के स्वभाव वाले हैं। ऐसी ज्ञान की अद्‌भुत सामर्थ्य है।

इसी प्रकार का भाव आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार में व्यक्त किया है- ''ज्ञान नेत्र की भांति अकारक व अवेदक ही है। यह नेत्र की भांति मात्र देखता-जानता है'' अर्थात् उस ज्ञेय का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।[9] इस सन्दर्भ से ऐसा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि बाह्य अग्नि दर्पण की अग्नि का कारण नहीं है और दर्पण में उस समय अग्न्याकार परिणमन की योग्यता है तो फिर अग्नि न हो तब भी दर्पण को अग्नि को प्रतिबिम्बित करना चाहिए अथवा अग्नि की समक्षता में भी दर्पण में अग्नि प्रतिभासित न होकर कुछ अन्य प्रतिभासित होना चाहिए। यह विचित्र तर्क है, यह तो दर्पण की स्वतंत्रता पर सीधा आघात है। यदि दर्पण के समक्ष अग्नि हो और वह अग्नि वैसी की वैसी दर्पण में प्रतिबिम्बित न हो तो हम दर्पण किस वस्तु को कहेंगे? पुनः यदि अग्नि के अभाव में भी दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित हो अथवा अग्नि की समक्षता में दर्पण में अग्नि के स्थान पर वह प्रतिबिम्बित न हो तो दर्पण की प्रामाणिकता ही क्या रह जाएगी? अतः अग्नि का भी होना और दर्पण में भी सांगोपांग प्रतिबिम्बित होना यही वस्तु-स्थिति है। इसमें परस्पर या सापेक्षता के लिए किंचित् मात्र अवकाश नहीं है। इस प्रकार दर्पण और उसका अग्न्याकार अग्नि से सर्वथा पृथक्त्व तथा निर्लिप्तत्व ही रह जाता है।[10]

ज्ञान का तत्-अतत् स्वभाव

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यंत निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञेय के आकार जैसी अपनी ज्ञान की रचना) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय के इस अभाव को ज्ञान का अतत् स्वभाव कहते हैं। इसप्रकार उनके ज्ञेयों के आकार पारिणमित होकर भी प्रत्यैक ज्ञेयाकार में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवार्तित रहता है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है। इसे आगम में ज्ञान का तत् स्वभाव कहा जाता है।

अनन्त लोकालोक रूप चित्र-विचित्र ज्ञेयाकारों का नियत समय में उत्पादन करने में ज्ञान स्वतंत्र है, इसमें इसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं होती न ही लोक से उसे कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है। ज्ञान में तो लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है। ज्ञान के उस ज्ञेय जैसे आकार की रचना ज्ञान की उत्पादन सामग्री से होती

है। लोकालोक रूप निमित्त की उसमें रंच मात्र आवश्यकता नहीं है, यह शुद्धनिश्चय नय का कथन है। जब यह कहा जाता है कि ज्ञान लोकालोक को जानता है तो यह कथन व्यवहारनय का है। अतः व्यवहार रूप से ज्ञान अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है निश्चय से अपने को ही जानता है, यही परिनिष्ठित कथन है। कहा भी है -

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन।[11]

अर्थात् केवलज्ञान में सारा विश्व झलकने पर भी आत्मा अपने ज्ञान का ही वेदन करता है। इसलिए यह कहा जाता है कि व्यवहार नय से केवली भगवान् लोकालोक को जानते हैं एवं निश्चय नय से केवल अपनी आत्मा को जानते हैं।

जैनदर्शन कर्त्ता-कर्म के अभेदत्व को स्वीकार करता है। वह एक ही वस्तु में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध को स्वीकृत करता है। दो वस्तुओं के मध्य कर्त्ता-कर्म का भेदत्व उसे स्वीकृत नहीं है।[12] ज्ञान एवं ज्ञेय भी कर्त्ता-कर्म का अनन्यत्व है, भेद नहीं। इस तथ्य को आचार्य अमृतचंद ने 'समयसार' की आत्मख्याति टीका में दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है-

"जैसे दाह्य, जलने योग्य पदार्थ के आकार की होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसमें दाह्य कृत अशुद्धता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस ज्ञान की 'ज्ञायकता' प्रसिद्ध है तथापि उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायक रूप से ज्ञात हुआ है वह स्वरूप प्रकाशन की अवस्था में भी दीपक की भाँति कर्त्ता-कर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है, स्वयं जानने वाला है, इसलिए स्वयं कर्त्ता ने अपने को जाना इसलिए वह स्वयं ही कर्म है, जैसे- दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है और अपने को अपनी ज्योति रूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार ज्ञायक को भी समझना चाहिए।" ज्ञान भी पर पदार्थों को प्रकाशित करने की अवस्था में ज्ञान ही है एवं स्वयं को प्रकाशित करने की अवस्था में भी ज्ञान ही है ऐसी ज्ञान-ज्ञेय की अभेदता है।[13]

पूर्वोक्त गाथा के भाव स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य आगे कहते हैं कि आत्मा को ज्ञायक नाम भी ज्ञेय को जानने से दिया जाता है, क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है वह ज्ञेय का अनुभव न होकर ज्ञायक का अनुभव होने से ज्ञायक ही है। यह जो जानने वाला है वह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं, ऐसा अपना अभेद रूप अनुभव करता है तब इस जानने रूप क्रिया का कर्त्ता वह स्वयं ही है तथा जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है

यह निश्चय नय का कथन है। अन्य जो परद्रव्य-संयोग के कथन हैं वे सब व्यवहारनय के कथन हैं। व्यवहारनय को असत्यार्थ कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि आकाश कुसुम की भांति वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है।

इसी प्रकार ज्ञान में कोई ज्ञेय अथवा घट प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान घटाकार अपनी नियत शक्ति से अपने नियत समय में उत्पन्न हुआ है, मिट्टी का घट तो पहले से विद्यमान था, किन्तु ज्ञान का घट पहले नहीं था। ज्ञान ने अपने क्रमबद्ध प्रवाह में अपना घट अब बनाया है और उस घटाकार की रचना में ज्ञान ने मिट्टी के घट का अनुकरण नहीं किया है। ज्ञान में घटाकार की रचना, ज्ञान के अनादि-अनंत प्रवाह क्रम में नियत क्षण में हुई है। ज्ञान के सामने घड़ा है, अतएव घट ही प्रतिबिम्बित हुआ यह बात तर्क और सिद्धान्त की कसौटी पर भी सिद्ध नहीं होती। यदि उसे सिद्धान्तः स्वीकार कर लिया जाय तो लोकालोक तो सदा विद्यमान है फिर केवलज्ञान क्यों नहीं होता? पुनः यदि पदार्थ ज्ञान का कारण हो तो फिर सीप के दर्शन में चांदी की भ्रान्ति क्यों हो जाती है अथवा वस्तु के न होते हुए भी केश में मच्छर का ज्ञान कैसे हो जाता है तथा भूत और भविष्य की पर्यायें तो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं उनका ज्ञान कैसे हो जाता है? अतः ज्ञेय से ज्ञान की सर्वाङ्गीण निरपेक्षता निर्विवाद है।[14]

एक ज्ञेय पदार्थ को देखकर जीवों के भाव भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि ज्ञेय पदार्थ से ज्ञान होता तो सभी को एक से भाव होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है- रास्ते में मरी पड़ी हुई एक वेश्या को साधु, युवक चोर एवं कुत्ता देखता है। साधु को उसे देखकर विचार आता है कि इस वेश्या ने अपना जीवन धर्म में न लगाकर विषय भोगों में व्यर्थ ही गंवा दिया। युवक वेश्या को देखकर विचारता है कि वह कितनी खूबसूरत है, यदि पहले पता होता तो मैं उसके पास जरूर जाता। चोर को उसके आभूषणों को देखकर विचार आता है- यदि सब चले जाते तो मैं ठाट से उसके आभूषण उतार लेता। कुत्ता उसे मृतक जानकर विचार करता है कि कैसे मौका मिले मैं उसके मांस का भक्षण कर लूं।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता वरन् ज्ञान स्वतः अपनी योग्यता से अपने ही स्वकाल में होता है। ज्ञेय की किसी प्रकार की पराधीनता उसे स्वीकार्य नहीं है।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट करने का प्रयास है कि ज्ञान सत्, अहेतुक, निरपेक्ष होता है, उसकी स्वतंत्र सत्ता है तथा उसकी सत्ता ज्ञेयों के आधीन नहीं है, परन्तु

इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि जैनदर्शन बौद्धों की भांति बाह्य वस्तु अथवा ज्ञेय पदार्थों की सत्ता को स्वीकृत नहीं करता। वह उनकी सत्ता को स्वीकृत करते हुए ज्ञेय को ज्ञान का कर्त्ता अस्वीकृत करता है।

ज्ञान-ज्ञेय स्वभाव को समझने से जीवन में लाभ - ज्ञेय स्वभाव को समझने के पश्चात् ज्ञान के अद्भुत सामर्थ्य का ज्ञान होता है कि ज्ञान अपने में तन्मय रहकर परपदार्थों को अतन्मय रूप से जानता है, उसमें प्रविष्ट नहीं होता। स्वयं ज्ञेय भी उसमें प्रविष्ट नहीं होते। दोनों की सत्ता भिन्न एवं पूर्णतः स्वतंत्र है। ज्ञान की इस ज्ञेयाकार पणिमन रूप अवस्था में स्वयं को मात्र ज्ञानरूप अनुभव करना सुख-शांति प्राप्ति का मार्ग है। यह स्वतंत्रता की चरम अंवस्था है इसे जीवन में अपनाने से हर्ष-विषाद, इष्ट-अनिष्ट, कर्तृत्व-ममत्व की दुःख रूप बुद्धि/सोच का अभाव हो जाता है। जैनदर्शन दो पदार्थों/द्रव्यों के बीच मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध[15] को स्वीकृत करता है एवं कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध को अस्वीकृत करता है। ज्ञान व ज्ञेय के बीच भी कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध को अस्वीकृत करता है। पूर्व में जो दर्पण का उदाहरण दिया है और यह कहा है कि दर्पण में जो अग्नि प्रतिबिम्बित हो रही है वह स्वयं उसकी उपादानगत योग्यता[16] से निर्मित है, उसमें अग्नि निमित्त मात्र है, वह कर्त्ता नहीं। इसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव भी स्व-पर प्रकाशक है। जीव संसार अवस्था में कर्मोदय से बंधा हुआ है एवं पुण्य-पाप रूप कर्मोदय की अवस्था सुख-दुःख का अनुभव करता है लेकिन जो उपरोक्त सिद्धान्त को जीवन में आत्मसात कर लेता है वह कर्मोदय की अवस्था में सुख-दुःख का वेदन न करके अपने को ज्ञान-मात्र आत्मा का अनुभव करता है, क्योंकि ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेय पदार्थों से जुड़ना अथवा उससे भिन्न अनुभव करना जीव की स्व-स्वतंत्रता है। उसमें ज्ञेय निमित्त मात्र है, कर्त्ता नहीं। जीवन के हर प्रसंग में ऐसा विचार किया जा सकता है कि देह स्त्री, पुत्रादि, धन-धान्य, मकान-दुकान, घोड़ा-गाड़ी ये सब ज्ञान के ज्ञेय मात्र हैं उनमें सुख-दुख की कल्पना जीव की स्वयं की मिथ्या बुद्धि है। ज्ञेय सुख अथवा दुःख का कारण नहीं, ऐसा मानने से जीवन में मानसिक शांति, समत्वभाव एवं समरसता का उद्भव होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की 15वीं गाथा की 'आत्मख्याति' टीका में ज्ञानी व अज्ञानी जीव की इस सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यता का उदाहरण सहित चित्रांकन करते हुए कहा है कि-

"ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। सामान्य ज्ञान के आविर्भाव और ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान

प्रगट अनुभव में आता है, तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं उन्हें वह स्वाद में नहीं आता। प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं कि जैसे-अनेक प्रकार के शाकाहारी भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला जो (सामान्य का तिरोभाव और शाकादि के स्वादभेद से भेदरूप विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी शाकलोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य के सम्बन्धरहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाला जो एकाकार रूप अभेद लवण है उसका स्वाद नहीं आता और जो ज्ञानी है, ज्ञेयों में आसक्त नहीं है, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं, जैसे शाकों से भिन्न-नमक की डली का क्षार मात्र स्वाद आता है उसी प्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है, सो आत्मा है जो आत्मा है सो ज्ञान है।"[17] यहां पर आचार्य ने शाक मिश्रित लवण का दृष्टान्त देते हुए अपनी बात स्पष्ट की है कि शाक तथा लवण के मिश्रण की भांति अज्ञानी को सदा ही 'यह देह मैं ही हूँ, यह ज्वर मुझे ही है', ऐसा मिश्र स्वाद आता है किन्तु ज्ञानी को सदा ही ज्ञान सामान्य की स्मृति है। मेरा ज्ञान ज्वर तथा देहाकार परिणमित होने पर भी मैं देह तथा ज्वर से भिन्न ज्ञान ही हूँ, ज्ञान को देह नहीं और कभी ज्वर चढ़ता ही नहीं। अतः ज्ञान के ज्वराकार और देहाकार परिणाम भी ज्ञानी मात्र के ज्ञान की अनुभूति हैं। इसमें यह तर्क अपेक्षित नहीं है कि यदि निरंतर ज्ञान-सामान्य की दृष्टि रहे तो फिर ज्ञान के विशेषों का क्या होगा ? वस्तुतः ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय निरपेक्ष रहकर अनेकाकार में परिणमित होता रहता है। बिना किसी प्रबंध के ही वे ज्ञान में झलकते रहते हैं।

इस प्रकर स्पष्ट है कि ज्ञानी अज्ञानी की मान्यता में भेद होने से ज्ञानी शांति समरसता का अनुभव करता है एवं अज्ञानी आकुलता-व्याकुलता का वेदन करता है।

7. ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा का सार :-

1. सारा जगत् ज्ञान का ज्ञेय होने पर भी ज्ञान में उसका प्रवेश न होने से असीम शांति का अनुभव करता है।
2. जीव ज्ञान स्वभावी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होता है। स्वभाव परनिरपेक्ष, असहाय होने से ज्ञान को अपने जानने रूप व्यवसाय करने में पर की, ज्ञेय की किंचित् मात्र अपेक्षा नहीं होती। इससे ज्ञान की चरम स्वतंत्रता का बोध होता है।
3. जीव से भिन्न पर वस्तुओं में प्रमेयत्व गुण होने के कारण वे ज्ञान का ज्ञेय बनने के सामर्थ्य से युक्त होती हैं। इससे ज्ञेय की स्वाधीनता का बोध होता है।

4. ज्ञान जड़ को जानने से जड़ रूप नहीं होता तथा अपने अनंत गुणों को जानने से अनंतगुण रूप नहीं होता। ज्ञान तो सदाकाल ज्ञानरूप रहता है, ऐसा जानने से निर्भयता का भाव जाग्रत होता है।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानमयी वस्तु तथा ज्ञेयरूप वस्तु दोनों अपने-अपने में अपनी स्वरूप सम्पदा से परिपूर्ण होने के कारण परस्पर एक दूसरे के आधीन नहीं हैं। वे एक दूसरे से किसी प्रकार परतंत्र नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान व ज्ञेयमयी समस्त वस्तुओं को उनकी स्वशक्तियाँ उन्हें पर से निरपेक्ष व स्वभाव से सहज सम्पन्न रखती हैं इस कारण से पर के हस्तक्षेप का कोई विकल्प पैदा होने की गुजांइश नहीं रहती। इस प्रकार यह ज्ञान-ज्ञेय मीमांसा वस्तु की अस्तित्वात्मक, क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता हुआ अकृत विश्वव्यवस्था में अपनी सम्मति देता हुआ शोभायमान होता है।

सन्दर्भ :

1. प्रमेयत्व- जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय है उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।
   (अ)लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्न 26, पृष्ठ 6
   (ब)द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र गाथा 12 का विशेषार्थ पृष्ठ 7
2. समयसार कलश- आचार्य अमृतचन्द्र, कलश 62
3. चैतन्य बिहार- जुगलकिशोरजी 'युगल' पृष्ठ 43, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, कोटा (राज.) प्रथम 'संस्करण' 2002
4. समयसार गाथा 116-120 की आत्मख्याति टीका, पृष्ठ 196
5. परीक्षामुख सूत्र- आचार्य माणिक्यनंदी, अध्याय-2, सूत्र-71
6. वही, अध्याय-2, सूत्र-8
7. प्रवचनसार- आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा-23
8. वही, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 28 की टीका
9. समयसार, गाथा 320
10. चैतन्य बिहार, पृष्ठ. 45
11. जिनेन्द्र अर्चना- पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, संस्करण बीसवां, 1999, पृष्ठ. 57
12. समयसार कलश- कलश 200
13. समयसार- गाथा 6, आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति टीका
14. चैतन्य बिहार, पृष्ठ. 46
15. **निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध**-जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणमित न हो परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिसपर कारणपने का आरोप आता है उसे निमित्तकारण कहते हैं। निमित्त की अपेक्षा से जो कार्य हो उसे नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त-नैमित्तिक

सम्बन्ध में निमित्त- नैमित्तिक रूप कार्य का कर्त्ता नहीं होता है, क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध घटित नहीं होता है।

(अ) समयसार, गाथा 82 की आत्मख्याति टीका

(ब) डॉ. उत्तमचंद्र जैन : आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व व कृतित्व, पृष्ठ. 447

16. उपादानगत योग्यता-जो स्वयं कार्यरूप परिणमित हो उसे उपादान कारण कहते हैं। कारण की कार्य को उत्पादन करने की शक्ति का नाम योग्यता है।
17. समयसार गाथा, 15 की आत्मख्याति टीका.

****

लोकानुप्रेक्षा में वास्तुविद्या

सतेन्द्र कुमार जैन

जैन दर्शन में वर्णित अनुप्रेक्षाओं में लोकानुप्रेक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लोक में स्थित भवनों, उत्तम-स्थानों, जिनालयों आदि के चिन्तन को लोकानुप्रेक्षा कहा गया है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने लोक के विभिन्न घटकों का उनके भेद-प्रभेदों के साथ सविस्तार वर्णन करते हुए उन्हें वास्तुशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का सफल प्रयास किया है, साथ ही करणीय तथा अकरणीय क्रियाओं तथा विधानों एवं उनसे होने वाले लाभ एवं हानि का भी यथास्थान विनियोग किया है। -**सम्पादक**

जैनदर्शन में चिन्तन-मनन की परम्परा का अद्वितीय स्थान है। इसमें क्रिया से अधिक चिन्तन और मनन को बल दिया गया है। व्यक्ति चाहे तो चिन्तन के द्वारा पुण्य कमा सकता है और चाहे तो चिन्तन से पाप भी कमा सकता है। इसी प्रसंग में 'अनुप्रेक्षा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अनुप्रेक्षा से अपने ज्ञान का परिमार्जन किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा के बारह भेद हैं जिसमें लोकानुप्रेक्षा में स्वर्ग, नरक, मध्यलोक आदि के वर्णन का चिन्तन किया जाता है। लोक में स्थित भवनों, उत्तम स्थान, जिनालयों आदि का चिन्तन लोकानुप्रेक्षा है। इसके बनावट आदि के आकार-प्रकार का चिन्तन कर वास्तु का भी ज्ञान किया जा सकता है। लोकानुप्रेक्षा के विषय का बृहद्द्रव्यसंग्रह में लगभग 15 पृष्ठों का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें लोक की व्यवस्था आदि में वास्तु का स्पष्टतया दर्शन होता है।

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप

जाने गए अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है[1] तथा अनंतानंत जो आकाश है उसके मध्य के प्रदेश में घनोदधि, घनवात और तनुवात वलय नामक तीन पवनों से वेशित आदि और अन्तःरहित, अकृत्रिम, निश्चल और असंख्यात् प्रदेश का धारक लोक है। नीचे मुख किये हुए आधे मृदंग के ऊपर पूरा मृदंग रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोक का है, परन्तु मृदंग गोल है और लोक चौकोर है, यह भेद है। इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा में लोक का ही चिन्तन मुख्य रूप से किया जाता है।[2]

लोकानुप्रेक्षा का विषय एवं प्रयोजन

लोकानुप्रेक्षा में तीन लोक के स्वरूप का तथा उसमें अकृत्रिम चैत्यालय, देवभवन, स्वर्गों की ऊँचाई आदि देवों के अस्तित्व का तथा मध्यलोक में पंचमेरु

आदि में विराजमान अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन तथा तीनलोक में विराजमान कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिनबिम्बों आदि का वर्णन बार-बार किया जाता है जिससे वैराग्य की ओर बढ़ता हुआ साधक या गृहस्थ मार्ग में फँसा हुआ श्रावक दोनों ही लोक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करके संसार परिभ्रमण के कारण को जानते हैं। इससे लोक के उत्तम पदों के प्रति मान बढ़ता है तथा नरकादि अधम गतियों से विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है जिससे श्रावक तथा साधक पाप कर्मों का अर्जन करने से बचते हैं तथा पुण्य कर्म में अधिक प्रवृत्ति करते हैं।

लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान में विशुद्धि बढ़ती है तथा जो पुरुष उपशम परिणाम स्वरूप परिणत होकर इस प्रकार लोक के आकार का ध्यान करता है वह कर्म-पुंज को नष्ट करके उसी लोक के शीर्ष पद को प्राप्त करता है।[3] जब ध्यान करने वाला ध्याता लोक के आकार के विषय में चिन्तन करता है तो वह लोक में उपस्थित अकृत्रिम चैत्यालय, अकृत्रिम बिंब, कृत्रिम चैत्यालय, कृत्रिम बिंब, समवसरण, मेरु, नंदीश्वर द्वीप, कुण्डलवर द्वीप, समुद्र में स्थापित देवभवन, देव आवास, नदी, क्रीड़ास्थल, उद्यान आदि का चिन्तन भी करता है जो वास्तु के अन्तर्गत आता है। जब वह इनकी रचना के विषय में चिन्तन करेगा तो वह उसके आकार-प्रकार का समीचीन माप आदि के विषय में भी विचार करेगा जिसे वास्तु की संज्ञा प्रदान की गई है। इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा में वास्तु के विषय का जितना अधिक चिन्तन किया गया है वह अन्य अनुप्रेक्षाओं में दृष्टिगत नहीं होता है।

वास्तु का अर्थ

वास्तु विद्या का अर्थ है भवननिर्माण की कला। इसी को प्राकृत भाषा में वत्थुविज्जा, उर्दू में सनाअत और अंग्रेजी में आर्कीटेक्टॉनिक्स कहते हैं। धर्म, ज्योतिष, पूजापाठ आदि ने मिलकर वास्तुविद्या को अध्यात्म से जोड़ दिया, जिससे उसका प्रचार एक आचार संहिता की भाँति हुआ है। उससे समाज की आस्था जुड़ी है। यही कारण है कि वास्तु विद्या अतीत की अवधारणा होते हुए भी वर्तमान में उससे कहीं अधिक उपयोगी है।

'वास्तु' शब्द संस्कृत की वस् क्रिया से बना है, जिसका अर्थ है रहना। मनुष्यों, देवों और पशु-पक्षियों के उपयोग के लिए मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि से बनाया गया स्थान वास्तु है। संस्कृत का 'वसति' और कन्नड़ का 'बसदि' शब्द भी वास्तु के अर्थ में ही है। हिन्दी का 'बस्ती' शब्द भी वास्तु से सम्बद्ध है, परन्तु वह ग्राम, नगर आदि के अर्थ में प्रचलित हो गया है।[4]

अकृत्रिम चैत्यालय एवं अकृत्रिम बिम्बों का माप

अकृत्रिम जिनचैत्यालयों की संख्या 85697481 है, जो पृथ्वीकायिक होते हैं वे शाश्वत चैत्यालय कहे जाते हैं। इनमें ऊर्ध्वलोक में 8497023, मध्यलोक में 458 तथा अधोलोक में भवनवासी देवों के भवनों की संख्या क्रमशः 64 लाख, 84 लाख, 72 लाख तथा छह स्थानों में 76 लाख तथा अंत में 96 लाख है। इन सबके प्रमाण को एक मिला देने पर 77200000 भवनवासी देवों के भवन हैं तथा इन भवनों में प्रत्येक में अकृत्रिम चैत्यालय हैं।[5] ऊर्ध्वलोक एवं अधोलोक में देवों के भवनों के ईशान दिशा में अकृत्रिम चैत्यालय हैं तथा देवों के प्रत्येक भवन में एक अकृत्रिम चैत्यालय का होना अनिवार्य है। परन्तु मध्यलोक में कुण्डलगिरि, रुचकगिरि, मानुषोत्तर पर्वत, पंचमेरु, 30 कुलाचल, 30 सरोवर, 170 विजयार्ध पर्वत, 20 गजदन्त, जम्बू-शाल्मलि आदि 10 वृक्ष, 4 इष्वाकार पर्वत एवं वक्षार आदि अनेक स्थानों पर स्थित जिनमन्दिरों में असंख्यात् प्रतिमाएँ विराजमान हैं।[6] ऋद्धिधारी मुनिराज, देव एवं विद्याधर सदैव इनकी पूजा-अर्चना करके अपने कल्मष को धोते हैं। अकृत्रिम चैत्यालय के प्रतिमाओं के विषय में तिलोयपण्णत्तीकार ने कहा है -

अट्ठुत्तर सय संखा जिणवर पासाद मज्झभागम्मि।
सिंहोसणाणि तुंगा सपायपीढा य फलिहमया।।
सिंहोसणाण उवरिं जिण पडिमाओ अणाइ णिहमाओ।
अट्ठुत्तर सय संखा पण सय चावाणि तुंगाओ।।
छत्तत्तयादि जुत्ता पडियंकासण समण्णिदा णिच्चं।
समचउरस्सायारा जयंतु जिणणाह पडिमाओ।

अर्थात् जिनेन्द्र प्रासादों के मध्य भाग में पाद पीठों सहित स्फटिक मणिमय एक सौ आठ उन्नत सिंहासन हैं। उन सिंहासनों के ऊपर पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँची एक सौ आठ अनादिनिधन जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। तीन छत्रादि सहित पर्यंकासन समन्वित और समचतुरस्र आकार वाली वे जिननाथ प्रतिमाएँ नित्य जयवंत हों।[7]

अकृत्रिम और कृत्रिम दो प्रकार की प्रतिमाएँ होती हैं। अकृत्रिम प्रतिमाएँ वे कहलाती हैं जो प्रतिमाएँ देवों द्वारा, राजाओं द्वारा एवं अन्य किन्हीं शिल्पियों द्वारा निर्मित नहीं की जाती हैं, अपितु अनेक प्रकार के रत्नों एवं नाना प्रकार के पाषाणों से स्वयं ही तद्रूप परिणमित हो जाती हैं। अनादिकाल से ऐसी ही है तथा अनन्त काल तक ऐसी ही बनी रहेंगी। अकृत्रिम प्रतिमाएँ पृथ्वीकायिक होती हैं। तीनों लोक में अकृत्रिम प्रतिमाओं की संख्या 9255327948 है जिसमें ऊर्ध्वलोक में 917678484, मध्यलोक में 49464 तथा अधोलोक में 8337600000 अकृत्रिम

जिनप्रतिमाएँ हैं। अकृत्रिम चैत्यालयों के द्वार के विषय में आचार्य नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार मे कहा है-

आयाम दलं वासं, उभय दलं जिणधाराण मुच्चत्तं।
दारुदय दलं वासं, आणिद्दाराणि तस्सद्धं ॥

अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से अकृत्रिम जिन चैत्यालय भी तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों प्रकार के जिनालयों का आयाम क्रमशः 100 योजन, 50 योजन और 25 योजन प्रमाण है। इन्हीं जिनालयों का व्यास आयाम के अर्धभाग प्रमाण अर्थात् 50 योजन, 25 योजन तथा 12.5 योजन प्रमाण है तथा इन तीनों की ऊँचाई आयाम और व्यास के योग के अर्धभाग प्रमाण अर्थात् 75 योजन, 37.5 योजन और 18.75 योजन है। द्वारों की ऊँचाई के अर्धभाग प्रमाण द्वारों का व्यास होता है तथा बड़े द्वारों के व्यासादि से छोटे द्वारों का व्यासादि आधा-आधा होता है।[8] अकृत्रिम चैत्यालय का मुख्य द्वार हमेशा पूर्व मुख ही होता है क्योंकि अकृत्रिम चैत्यालय में जिन चैत्य पूर्वाभिमुख विराजमान रहते हैं।[9] इसी प्रकार प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात् ज्योतिष्क विमान अकृत्रिम स्वर्ण तथा रत्नमय जिन चैत्यालयों से भूषित हैं।[10]

चैत्यवृक्ष एवं वास्तु

चैत्यवृक्ष जैन दर्शन का अद्वितीय शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है जिस वृक्ष में चैत्य अर्थात् जिनबिम्ब हो उसे चैत्यवृक्ष कहते हैं। ये चैत्यवृक्ष अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक- तीनों लोकों में पाए जाते हैं। अधोलोक में भवनवासी देवों के दस भेदों में दस प्रकार के चैत्यवृक्ष पायें जाते हैं जिनमें अवत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मली, जम्बू, वेतस, कदंब, प्रयंगु, सरिस, पलाश, राजद्रुम ये दस चैत्यवृक्ष पाए जाते हैं। ये चैत्यवृक्ष असुर कुमारादि के क्रमशः पाए जाते हैं। कहा है-

चेत्ततरुणं मूले पत्तेयं पडिदि सम्हि पंचेव।
पलियं कठिया पडिमा सुरच्चिया ताणि वंदामि॥
पडि दि सयं णियसीसे सगसग पडिमा जुदा विराजंति।
तुंगा माणत्थंमा रयणमया पडिदिसं पंच॥

अर्थात् भवनवासी देवों के चैत्यवृक्ष के मूल में प्रत्येक दिशा में पाँच-पाँच प्रतिमा पर्यंक आसन में विराजमान हैं तथा प्रत्येक दिशा में प्रत्येक प्रतिमा के आगे एक मानस्तम्भ है, उस मानस्तम्भ के प्रत्येक दिशा में सात-सात उत्तम रत्न की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इस प्रकार एक चैत्यवृक्ष के चारों दिशाओं में 20 प्रतिमाएँ और 20 मानस्तम्भ हैं तथा 20 मानस्तम्भ के प्रत्येक दिशा में सात-सात प्रतिमा के कारण एक मानस्तम्भ में 28 प्रतिमाएँ तथा 20 मानस्तम्भ में 560 प्रतिमाएँ होती हैं तथा चैत्यवृक्ष में 20 प्रतिमाएँ मिला देने से 580 प्रतिमाएँ होती हैं। अतः

यह कह सकते हैं कि मानस्तम्भ की एक दिशा में सात प्रतिमा होने से मानस्तम्भ भी सात मंजिल का हो सकता है।[11] व्यंतर देवों के आठ भेदों में आठ प्रकार के चैत्यवृक्ष क्रमशः पाए जाते हैं जिनमें अशोक, चंपा, नागकेसरि, तुंवडी, वट, कंटतरु, तुलसी, कदंब है। व्यंतर देवों के चैत्यवृक्ष में प्रतिमाओं की संख्या भवनवासी देवों के चैत्यवृक्षों से भिन्न है। कहा है चैत्यवृक्ष के चारों ओर चार-चार प्रतिमा तथा प्रत्येक प्रतिमा के आगे मानस्तम्भ हैं तथा प्रत्येक मानस्तम्भ के तीन कोट होते हैं। प्रत्येक कोट में चार-चार प्रतिमाएँ होती हैं अर्थात् चैत्यवृक्ष के चारों दिशाओं में 16 प्रतिमाएँ एवं 16 मानस्तम्भ हैं तथा सोलह मानस्तम्भ में 48 कोटे तथा 48 कोटों में 192 प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इस प्रकार 192 तथा 16 प्रतिमाओं के योग से 208 प्रतिमाएँ होती हैं[12] तथा वैमानिक देवों में चार प्रकार के चैत्यवृक्षों के नाम आते हैं। त्रिलोकसार में कहा है कि सौधर्मादिक इन्द्रों के चारों वन में चार चैत्य वृक्ष होते हैं जिनमें अशोक, वनखण्ड, चंपक वनखण्ड, सप्तछद वनखण्ड और आम्र वनखण्ड हैं। इन चैत्यवृक्षों का माप जम्बूवृक्ष के समान है[13] तथा वनखण्ड पद्म तालाब के समान विस्तार वाला है अर्थात् मेरु पर्वत के ईशान दिशा में जम्बू वृक्ष है।[14] जम्बू वृक्ष 500 योजन की स्थली में फैला हुआ है जिसकी ऊँचाई 10 योजन की तथा मध्य में 6 योजन चौड़ा तथा ऊपर 4 योजन चौड़ा है तथा वनखण्ड 1000 योजन लम्बा तथा 500 योजन चौड़ा है।[15]

देवभवन एवं वास्तु

जैनदर्शन में 16 स्वर्ग, 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश और 5 अनुत्तर विमान हैं जिनमें से 16 स्वर्गों में कल्पनाएँ हैं जिस कारण से हीनाधिक्रता स्वाभाविक है। देव भवनों या विमानों का प्रमाण बृहद्द्रव्य संग्रह में कहा है कि ऊर्ध्वलोक में 63 पटल होते हैं जिनमें 16 स्वर्ग, 9 ग्रैवेयक, 9 अनुदिश तथा 5 अनुत्तर विमान स्थित हैं। प्रत्येक स्वर्ग में एक-एक इन्द्रक विमान है। उन इन्द्रक विमानों की पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियों के विमान तथा नैऋत्य और आग्नेयविदिशाओं के प्रकीर्णक विमान की दिशा में सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतार, आनत, आरण स्वर्गस्थित हैं तथा उत्तर श्रेणिबद्ध विमान तथा वायव्य और ईशानविदिशा के विमानों में ऐशान, माहेन्द्र, ब्रह्मोत्तर, कपिष्ठ, महाशुक्र, सहस्रार, प्राणत तथा अच्युत स्वर्गस्थित हैं।[16]

इसी प्रकार स्वर्ग के विमान में नगरों के विस्तार में अन्तर दृष्टिगत होता है। कहा है कि-

चुलसीदीय असीदी बिहत्तरी सत्तरीय जोयणगा।
जावय बीस सहस्सं समचउरस्साणि रम्याणि॥

अर्थात् सौधर्म स्वर्ग में 84 हजार योजन, ईशान स्वर्ग में 80 हजार योजन, सानत्कुमार स्वर्ग में 72 हजार योजन, माहेन्द्र स्वर्ग में 70 हजार योजन, ब्रह्म युगल में 60 हजार योजन, लांतव युगल में 50 हजार योजन, शुक्र युगल में 40 हजार योजन, शतार युगल में 30 हजार योजन, आनतादि चार स्वर्ग में 20 हजार योजन प्रमाण इन्द्र के नगर का विस्तार है तथा ये नगर समचतुरस्र हैं अर्थात् जितने लम्बे हैं उतने चौड़े हैं अर्थात् चौकोर हैं।[17] इसी प्रकार स्वर्गों की ऊँचाई के विषय में कहा है कि सौधर्म युगल में 300 योजन, सानत्कुमार युगल में 250 योजन, ब्रह्मयुगल में 200 योजन, लान्तव युगल में 150 योजन, शुक्र युगल में 120 योजन, शतार युगल में 100 योजन, आनत युगल में 80 योजन नगर के कोट की ऊँचाई है[18] तथा नींव की ऊँचाई के विषय में कहा है कि सौधर्म युगल में 50 योजन, सानत्कुमार युगल में 25 योजन, ब्रह्मयुगल में 12.5 योजन, लान्तव युगल में 6.25 योजन, शुक्र युगल में 4 योजन, शतार युगल में 3 योजन, आनत युगल में 2.5 योजन कोट के नींव की ऊँचाई है।[19] प्रत्येक दिशा में नगर के द्वार की ऊँचाई के विषय में कहा है कि सौधर्म युगल में 400 योजन, सानत्कुमार युगल में 300 योजन, ब्रह्मयुगल में 200 योजन, लान्तव युगल में 180 योजन, शुक्र युगल में 140 योजन, शतार युगल में 120 योजन, आनत युगल में 100 योजन द्वार की ऊँचाई है[20] तथा द्वार की चौड़ाई के विषय में कहा है कि सौधर्म युगल में 100 योजन, सानत्कुमार युगल में 90 योजन, ब्रह्मयुगल में 80 योजन, लान्तव युगल में 70 योजन, शुक्र युगल में 50 योजन, शतार युगल में 40 योजन, आनत युगल में 30 योजन द्वार की चौड़ाई है।[21]

इसी प्रकार इन्द्रों के महलों के विषय में भी स्पष्ट माप कहा है कि प्रथम के 6 युगलों में शेष कल्पों का 1 स्थान तथा 9 ग्रैवेयक के तीन स्थान, 1 अनुदिश का स्थान तथा 1 अनुत्तर का स्थान इस प्रकार 12 स्थानों की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई बतायी है। कहा है– सौधर्म युगल में 600 योजन, सानत्कुमार युगल में 500 योजन, ब्रह्मयुगल में 450 योजन, लान्तव युगल में 400 योजन, शुक्र युगल में 350 योजन, शतार युगल में 300 योजन तथा शेषकल्प में 250 योजन, प्रारम्भ के तीन ग्रैवेयक में 200 योजन, मध्यम तीन ग्रैवेयक में 150 योजन, अन्तिम तीन ग्रैवेयक में 100 योजन,9 अनुदिश में 50 योजन तथा 5 अनुत्तरों में 25 योजन इन्द्रों के महलों की ऊँचाई है[22] तथा सौधर्म युगल में 550 योजन, सानत्कुमार युगल में 500 योजन, ब्रह्मयुगल में 450 योजन, लान्तव युगल में 400 योजन, शुक्र युगल में 350 योजन, शतार युगल में 250 योजन तथा शेषकल्प में 200 योजन लम्बाई है तथा शेष की लम्बाई ऊँचाई का 5वां भाग

तथा चौड़ाई ऊँचाई का 10वां भाग प्रमाण है।[23]

इन्द्र के निवास स्थल अमरावतीपुर के मध्य में इन्द्र विराजमान रहता है तथा उसकी ईशान दिशा में सुधर्मा सभा है जो 100 योजन लम्बी तथा 50 योजन चौड़ी है तथा 75 योजन ऊँची है।[24]

पूज्य-अपूज्य जिनबिम्ब का फल

पूजन करने के पहले पूर्व दिशा की ओर मुख करके स्नान करें, पश्चिम दिशा की ओर मुख करके दातून करें, उत्तर दिशा की ओर मुख करके श्वेत वस्त्र धारण करें और जिनेन्द्रदेव की पूजा उत्तर दिशा की ओर मुख होकर करें और यदि जिन प्रतिमा का मुख पूर्व दिशा की ओर हो तो पूजा उत्तर दिशा की ओर मुख करके करें और यदि प्रतिमा का मुख उत्तर दिशा की ओर हो तो पूजा पूर्व मुख होकर करें। यदि श्रावक घर में चैत्यालय बनवाना चाहे तो घर में प्रवेश करते हुए शल्य रहित वामभाग में डेढ़ हाथ ऊँची भूमि पर देवता का स्थान बनावे। यदि गृहस्थ नीची भूमि पर देवता का स्थान बनाएगा तो वह अवश्य ही संतान के साथ निचली से निचली अवस्था को प्राप्त होता जाएगा। घर के चैत्यालय में ग्यारह अंगुल प्रमाण वाला जिनबिम्ब सर्व मनोवांछित अर्थ का साधक होता है, अतएव इस प्रमाण से अधिक ऊँचा जिन बिम्ब नहीं बनाना चाहिए। एक अंगुल प्रमाण जिनबिम्ब श्रेष्ठ होता है, दो अंगुल प्रमाण का जिनबिम्ब धन–नाशक होता है। तीन अंगुल के जिनबिम्ब बनवाने पर धन-धान्य एवं सन्तान आदि की वृद्धि होती है और चार अंगुल के जिनबिम्ब होने पर पीड़ा होती है। पाँच अंगुल के जिनबिम्ब होने पर घर की वृद्धि होती है, छः अंगुल जिनबिम्ब होने पर घर में उद्वेग होता है। सात अंगुल के जिनबिम्ब होने पर गायों की वृद्धि होती है और आठ अंगुल के जिनबिम्ब होने पर धन्य–धान्यादि की हानि होती है। नव अंगुल के जिनबिम्ब होने पर पुत्रों की वृद्धि होती है और दस अंगुल के जिनबिम्ब होने पर धन का नाश हो जाता है तथा ग्यारह अंगुल की प्रतिमा सब इच्छित सुखों को देने वाली होती है। इस प्रकार एक अंगुल प्रमाण जिनबिम्ब से लेकर ग्यारह अंगुल तक के जिनबिम्ब को घर में स्थापना करने का शुभाशुभ फल कंहा गया है। अतः गृहस्थ को घर में अंगुल प्रमाण वाला जिनबिम्ब पूजना चाहिए। इससे अधिक प्रमाण वाला जिनबिम्ब ऊँचे शिखर वाले जिनमन्दिर में स्थापना करके पूजे। घर के चैत्यालय में जिनप्रतिमा काष्ठ, लेप, पाषाण, सुवर्ण, चाँदी, और लोहे की बनवाये। ग्यारह अंगुल से अधिक प्रमाणवाली प्रतिमा आठ प्रतिहार्य आदि परिवार से संयुक्त ही बनवाना चाहिए तथा आज के समय में काष्ठ, लेप और लोहे की प्रतिमा नही बनवाना चाहिए क्योंकि इनकी बनवायी

गई यथोक्त योग्य प्रतिमाओं के निर्माण का कोई लाभ नहीं है और जीवों की उत्पत्ति आदि होने से अनेक दोषों की संभावना है। जिनमन्दिर के ध्वजा से रहित होने पर पूजन–हवन और जप सर्व विलुप्त हो जाते हैं। अतः जिनमन्दिर पर ध्वजारोहण करना चाहिए। जिस जिनबिम्ब को पूजते हुए एक सौ वर्ष व्यतीत हो गये और जिस जिनबिम्ब को उत्तम पुरुषों ने स्थापित किया है, वह जिनबिम्ब यदि अंगहीन है, तो भी पूज्य है, उसका पूजन निष्फल नहीं है जो जिनबिम्ब शुभ लक्षणों से युक्त हो, शिल्पशास्त्र में प्रतिपादित नाप तौल वाला हो, अंग और उपांग से सहित हो और प्रतिष्ठित हो, वह यथायोग्य पूजनीय है। किन्तु जो जिनबिम्ब नासा, मुख, नेत्र, हृदय नाभिमण्डल इतने स्थानों पर यदि अंगहीन हो तो वह प्रतिमा नहीं पूजनी चाहिए। यदि कोई प्रतिमा प्राचीन हो और अतिशययुक्त हो, तो वह अंगहीन भी पूजने योग्य है। किन्तु शिरहीन प्रतिमा कदापि पूजने योग्य नहीं है। उसे गहरे पानी अर्थात् नदी, समुद्रादिक में विसर्जित कर देना चाहिए।

देवगृह में पूजा करने की दिशा एवं फल

वास्तु के अनुसार श्रावक को घर बनाते समय देवगृह बनाने का निर्देश देते हुए कहा है कि श्रावक को अपने घर की पूर्व की दिशा में श्रीगृह बनाना चाहिए, आग्नेय दिशा में रसोई बनवाना चाहिए, दक्षिण दिशा में शयन करना चाहिए, नैऋत्य दिशा में आयुध आदि रखना चाहिए, पश्चिम दिशा में भोजन क्रिया करना चाहिए, वायव्य दिशा में धनसंग्रह करना चाहिए, उत्तर दिशा में जलस्थान रखना चाहिए और ईशान दिशा में देवगृह बनवाना चाहिए। जो श्रावक अंगुष्ठ प्रमाण भी जिनबिम्ब का निर्माण कराके नित्य पूजन करता है, वह असंख्य पुण्य का उपार्जन करता है। पूजन करने के संदर्भ में कहा गया है कि पुरुष पूर्व दिशा में अथवा उत्तर दिशा में मुख करके जिनेन्द्र का पूजन करे। दक्षिण दिशा में और विदिशाओं में मुख करके पूजन नहीं करना चाहिए। जो पुरुष पश्चिम दिशा की ओर मुख करके श्री जिनेश्वर देव की पूजा करेगा, उसकी संतान का विच्छेद होगा और दक्षिण दिशा में मुख करके पूजन करने वाले को संतान नहीं होगी। आग्नेय दिशा में मुख करके पूजा करने वाले को दिन प्रतिदिन धन की हानि होती है। वायव्य दिशा में मुख कर पूजन करने वाले को संतान नहीं होती है, नैऋत्य दिशा में मुखकर पूजन करने वाले का कुल क्षय होता है। ईशान दिशा में मुख करके पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह सौभाग्य का अपहरण करती है। शान्ति और पुष्टि के लिए पूर्व दिशा में मुख करके पूजन करना चाहिए। उत्तर दिशा में मुख करके पूजन करने से धन की प्राप्ति होती है। गृहस्थों को तिलक लगाए बिना पूजन नहीं करनी चाहिए। चरण, जाँघ, हाथ, कन्धा, मस्तक, भाल,

कण्ठ, हृदय, भुजा और उदर इन नव स्थानों पर तिलक चिह्न करके सदा पूजा करनी चाहिए। तिलक के बिना इन्द्र की पूजा भी निरर्थक है।[25]
जिन मन्दिरों के निर्माण में 18 प्रकार के स्पृश्य शूद्र ग्रहण किये गये हैं शेष अस्पृश्य शूद्रों को वर्जित किया गया है।[26]

कृत्रिम जिनबिम्बों का माप

कृत्रिम प्रतिमाओं का निर्माण होने के बाद पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराकर मन्दिर में स्थापना कराने की पद्धति प्राचीन काल से चली आ रही है। ये प्रतिमाएँ अचल और चल के भेद से दो प्रकार की होती हैं। गर्भगृह की मूल वेदि पर मूल नायक भगवान् और उनके आजू–बाजू में स्तनसूत्र के माप से विराजमान प्रतिमाएँ अपने स्थान पर स्थिर अचल ही होती हैं। अचल प्रतिमाएँ अपने–अपने स्थान पर स्थिर रहती हैं, किन्तु चल प्रतिमाएँ विशिष्ट अवसरों पर मूल वेदि से उठाकर अस्थायी वेदियों पर एवं गंध कुटी में विराजमान कर स्थानान्तर में भी लायी जा सकती हैं। कृत्रिम चल अथवा अचल प्रतिमा का निर्माण कराते समय उसके माप के विषय में यह ध्यान देना चाहिए कि प्रतिमा का माप विषम संख्या में हो अर्थात् अंगुल, इंच, फुट आदि विषम संख्या में होना चाहिए। सम संख्या में होने पर वह स्थापना करने वाले तथा उस नगर के आराधक भक्तों को कष्ट देने वाली होती हैं।

अकृत्रिम जिनबिम्बों का माप द्वारमान के आधार पर बनाया जाता है अर्थात् मन्दिर में मुख्य द्वार की ऊँचाई जितनी होती हैं, उसके आठ या नव भाग करके उसमें से ऊपर का एकभाग छोड़कर शेषभाग के तीन भाग करने पर उसमें से दो भाग की खड्गासन मूर्ति तथा एकभाग प्रमाण का आसन बनवाना चाहिए। पद्मासन मूर्ति निर्माण के विषय में कहा गया है– द्वार की ऊँचाई के बत्तीस भाग करने पर उसमें से 14,13,12 भाग की पद्मासन मूर्ति तथा 16,15,14 भाग की खड्गासन प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए।[27]

मध्यलोक में मन्दिर निर्माण की परम्परा

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही देवगृह के निर्माण का प्रचलन रहा है। भक्त अपने गृह से देवगृह को सुन्दर एवं सुसज्जित बनाने में अति आनन्द की प्राप्ति करता है।

जैन संस्कृति के इतिहास में मन्दिर निर्माण के विषय में कोई नियत समय निश्चित नहीं है, क्योंकि जैन संस्कृति अनादिनिधन संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसकी संस्कृति अनादिनिधन है उसके देवता, देवप्रतिमा तथा देवगृह के निर्माण अनादि काल से होते रहे हैं। जैनागम में देवताओं के जिनमन्दिर आदि

85697481 तथा अकृत्रिम चैत्यालय में 9255327948 जिनप्रतिमाएँ अकृत्रिम हैं। इसप्रकार जिन मन्दिरों के निर्माण का समय अनिश्चित है।

यदि दूसरे पक्ष से देखा जाए तो कर्मभूमि में सदा षट्काल का परिवर्तन होता रहता है, जो अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल क्रम से प्रवाहित होता है। जिसमें प्रथम काल सुषमा–सुषमा है जिसका काल 4 कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण, द्वितीय काल सुषमा 3 कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण, तृतीय काल सुषमा–दुषमा 2 कोड़ा -कोड़ी सागर प्रमाण, चतुर्थ काल सुषमा–दुषमा 1 कोड़ा-कोड़ी सागर में 42 हजार वर्ष कम प्रमाण, पंचम काल दुषमा 21 हजार वर्ष प्रमाण तथा षष्ठ काल 21 हजार वर्ष प्रमाण है। इन छह कालों में परिवर्तन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की तरह उतरते और चढ़ते क्रम से घड़ी की सूइयों की तरह होता है। इन छह कालों में प्रथम तीन काल भोगभूमि के नाम से जाने जाते हैं जिनमें धर्म और धार्मिक जीवों का अभाव होता है, इसमें कर्म भी नहीं किया जाता मात्र भोग किया जाता है, इस कारण इसे भोगभूमि कहते हैं और जहां धर्म और कर्म नहीं होता वहाँ जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर नहीं होते हैं। परन्तु जैसे–जैसे काल का परिवर्तन होता गया वैसे–वैसे भोगभूमि का अभाव होता गया और कर्म भूमि का प्रारम्भ चतुर्थ काल के रूप में हुआ। इस समय धर्म एवं कर्म से अनभिज्ञ लोगों को समझाने के लिए चौदह कुलकरों की उत्पत्ति होती है तथा 14वें कुलकर का पुत्र प्रथम तीर्थंकर होता है। भगवान् के जन्म लेने पर सौधर्म इन्द्र भगवान् की आज्ञा से जिनमन्दिर का निर्माण कराता है।[28] यही कर्मभूमि का काल जैनदर्शन के अनुसार मन्दिर निर्माण का प्रारम्भ काल कहलाया।

मन्दिर शब्द का अर्थ

मन्दिर शब्द का अर्थ संस्कृत में देवालय भी होता है आवास गृह भी परन्तु हिन्दी में वह प्राय: देवालय के अर्थ में ही है। जैन साहित्य में एक शब्द और भी इस अर्थ विशेष रूप में प्रयोग होता है, वह है आयतन जिसका प्रयोग जिनायतन के अन्तर्गत होने लगा और उसके भी बाद मन्दिर, आलय, प्रासाद, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ले लिया। जिनायतन शब्द के प्रचलन से एक बात सूचित होती है कि मन्दिर में जिन भगवान् का मूर्ति के रूप में निवास होता था। मूर्ति के लिए चैत्य शब्द का भी चलन था, इसीलिए चैत्यालयों में विराजमान जिनबिम्बों को अर्घ देने का विधान भी आज जैन पूजा पाठ का एक अंग है। अकृत्रिम चैत्यालयों का अर्थ है विजयार्ध पर्वत, कुलाचलों आदि पर विद्यमान शाश्वत जिनायतन जिनका निर्माण नहीं किया जाता।[29]

लोक की दिशा

वर्तमान में नक्शे की अपेक्षा से माना जाय तो ऊपर की ओर का हिस्सा उत्तर है तथा नीचे की ओर का हिस्सा दक्षिण कहलाता है। जैन दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में लोक के विस्तार के कथन में पूर्वादि दिशाओं का निर्देश किया है– लोक की दक्षिणोत्तर चौड़ाई सर्वत्र जगत्श्रेणी 7 राजू प्रमाण है किन्तु पूर्व–पश्चिम चौड़ाई 7 राजू में कुछ कम है। अतः लोक में अधोलोक की ओर दक्षिण दिशा तथा ऊर्ध्व लोक की ओर उत्तर दिशा है। सौधर्म इन्द्र की दिशा की ओर दक्षिण दिशा तथा ईशान इन्द्र की ओर उत्तर दिशा जानना चाहिए।[30]

दूसरा प्रमाण तिलोयपण्णत्ती में प्रथम भाग में गाथा 200 के विशेषार्थ में वर्णित है कि ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मस्वर्ग के समीप पूर्व दिशा के लोकान्तभाग से पश्चिम की ओर एक राजू आगे जाकर लम्बायमान अ–ब रेखा खींचने पर उसकी ऊँचाई 7/4 राजू होती है। अतः लोक सिद्धशिला की ओर उत्तर भाग में तथा अधोलोक की ओर दक्षिण भाग में है।[31]

वास्तु विद्या में दिशाओं के स्वामी एवं उनका महत्त्व

जैन संस्कृति में गृहस्थ को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को करने का आवश्यक निर्देश दिया गया है। जिसमें गृहस्थ प्रारम्भ के तीन पुरुषार्थों को घर में रह कर तथा मोक्ष पुरुषार्थ को घर त्याग कर पालन करता है। गृहस्थी में रहने वाला मानव अपनी आवश्यकता की पूर्ति घर में ही रहकर करता है जिसमें उसके लिए घर में धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ के लिए पूजास्थल, भोजनशाला, जलसंग्रहण स्थल, शौचालय, संग्रहणकक्ष, शयनकक्ष, अतिथिकक्ष, स्वागत कक्ष, वाहन स्थान, स्नानागार, अध्ययनकक्ष आदि सुविधाएँ आवश्यक हैं। वह इन सुविधाओं से सम्पन्न करके अपने घर को स्वर्ग तुल्य बनाना चाहता है। इन सभी सुविधाओं को घर में व्यवस्थित रूप से बनाने के लिए मानव के पास पृथ्वी का छोटा सा भाग ही होता है तथा उसमें चार दिशाएँ, चार विदिशाएँ और मध्य बिन्दु ये नवभाग होते हैं। इन नवभागों के नव स्वामी हैं जिनका स्वभाव इन नव भागों को प्रभावित करता है। पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र, आग्नेय दिशा का अग्नि, दक्षिण दिशा का यम, नैऋत्य दिशा का निऋति, पश्चिम दिशा का वरुण, वायव्य दिशा का वायु, उत्तर दिशा का कुबेर, ऐशान दिशा का ईशान, और ब्रह्म स्थान का ब्रह्म, स्वामी है। इन आठ दिशाओं–विदिशाओं में तथा ब्रह्म स्थान की उपमा स्वर्ग में रहने वाले इनके स्वामी के निवास स्थान से की जाए तो दिशाओं की वास्तविकता का ज्ञान हो सकता है।

ऐशान दिशा

प्रकृति चक्र का प्रस्थान बिन्दु है ऐशान। उसका प्रभावक तत्त्व है जल, जो शान्ति का प्रतीक है, इसीलिए ऐशान दिशा शान्तिदायक है। इस दिशा का अधिष्ठाता है ईशान जिसे शान्तिदायक माना गया है। संस्कृत में ऐशान दिशा ईश शब्द से निष्पन्न है। ईश ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसकी आदि वृद्धि होकर ऐशान शब्द की निष्पत्ति होती है। जैनदर्शन में तीर्थंकर शब्द भी शान्तिदायक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[32] इन धर्मचक्र के प्रवर्तकों का स्थान, देवालय इसीलिए ऐशान दिशा में बनाया जाता है। अतः ईश जिस स्थान में प्रतिष्ठित है, उसे ऐशान दिशा कहते हैं। तिलोयपण्णत्ती में आचार्य यतिवृषभ ने ऐशान दिशा का महत्त्व बताते हुए कहा है–

सक्कस्स मंदिरादो, ईसाण दिसे, सुधम्मणाम सभा।
ति सयस्स कोस उदया, चउ सय दीहा तदद्ध वित्थारा॥
तत्थेसाण दिसाए, उववाद सभा हुवेदि पुव्व सभा।
दिप्पंत रयण सेज्जा, विण्णास विसेस सोहिल्ला॥
तीए दिसाए चेट्ठदि, वर रयणमओ, जिणिंद पासादो।
पुव्व सरिच्छो अहवा पंडुग जिणभवण सारिच्छो॥

अर्थात् सौधर्म इन्द्र के भवन से ईशान दिशा में तीन सौ कोस ऊँचाई, चार सौ कोस लम्बी और इससे आधा दो सौ कोस विस्तार वाली सुधर्मा सभा है तथा वहाँ ईशान दिशा में पूर्व के सदृश उपपाद सभा है। यह सभा देदीप्यमान रत्न शय्याओं सहित विन्यास विशेष से शोभायमान है। उसी दिशा में पूर्व के सदृश अथवा पाण्डुक वन संबंधी जिनभवन के सदृश उत्तम रत्नमय जिनेन्द्र प्रसाद हैं। अर्थात् सौधर्म इन्द्र का संचालन स्थान सुधर्मा सभा ईशान दिशा में है जहाँ से वह स्वर्ग दिशा का संचालन शान्तिपूर्वक करता है तथा पूजा अराधना के लिए ईशान दिशा में अकृत्रिम चैत्यालय है जहाँ शान्तिदायक अरिहन्त भगवान् की प्रतिमा विराजमान है।[33]

जल संसाधन और उससे लगे हुए देवालय या पूजा कक्ष के लिए ऐशान दिशा का विधान है, क्योंकि पूर्व से उदित होते सूर्य की किरणें जल को शुद्ध बनाए रखती हैं और स्नान तथा पूजा के लिए उपस्थित लोगों का तन–बदन प्रफुल्लित कर देती हैं, उन्हें विटामिन डी भी देती हैं।

प्रकृति का सबसे बड़ा वरदान सूर्य है। उनका स्वागत करने के लिए मानो पूर्व या पूर्वोत्तर में सिंहद्वार, प्रवेश द्वार, अन्य द्वार तथा बहुत सी खिड़कियाँ बनाने का विधान है। पूर्वोत्तर यानी ऐशान दिशा में भूमि दक्षिण पश्चिम की अपेक्षा नीची

रखी जाए ताकि सूर्य-किरणें अधिक से अधिक मात्रा में गृह प्रवेश करके वातावरण को प्रदूषण से मुक्त कर सकें।

इसीलिए प्रायः सभी शुभ कार्य ऐशान दिशा से उन्मुख होकर करने से सफल होते हैं, उदाहरण के लिए चक्रवर्ती की विजय यात्रा इसी दिशा से आरंभ होती है, इष्टदेव की परिक्रमा इसी दिशा से दक्षिण–पूर्व रास्ते से, आगे बढ़ती है, इसीलिए दक्षिणावर्त परिक्रमा को प्रदक्षिणा भी कहते हैं।

पूर्व दिशा

पूर्व दिशा का स्वामी सौधर्म इन्द्र का लोकपाल सोम है। आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में कहा है

तम्मंदिर बहुमज्झे कीडण सेलो विचित्त रयणमओ।
सक्कस्स लोयपालो, सोमो कीडेदि पुव्व दिस णाहो॥

अर्थात् उस भवन के बहुमध्य भाग में अद्भुत रत्नमय एक क्रीड़ा शैल है। इस पर्वत पर पूर्वदिशा का स्वामी सौधर्म इन्द्र का सोम नामक लोकपाल क्रीड़ा करता है[34] तथा उसके विमान का नाम बताते हुए कहा है–

आउट्ठ कोडि आहिं कण्णज इत्थीहि परिउदो सोमो।
अद्धिय पण पल्लाउ रमदि सयंपह विमाण पहू॥

अर्थात् अढ़ाई पल्य प्रमाण आयुवाला स्वंप्रभ विमान का स्वामी सोम नामक लोकपाल साढ़े तीन करोड़ कल्पवासिनी देवियों से परिवृत्त होता हुआ रमण करता है तथा सोम लोकपाल के विमानों का परिवार 6 लाख 66 हजार 666 है। आचार्य यतिवृषभ ने सोम को पूर्व दिशा का स्वामी कहा है तथा वास्तुकारकों ने इन्द्र को पूर्व दिशा का स्वामी कहा है। यद्यपि इन्द्र पूर्वमुखी अपने आसन में विराजता है। उस इन्द्र की पूर्व दिशा में सोम लोकपाल निवास करता है जिससे सौधर्म इन्द्र के विमान की पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र है।[35]

आग्नेय दिशा

पूर्व और दक्षिण दिशा के मध्य का स्थान आग्नेय दिशा कहलाती है। इसका स्वामी अग्नि है। इस दिशा का तत्त्व भी अग्नि ही है। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार भवनवासी देवों में अग्निकुमार जाति के देवों का इन्द्र अग्निशखी दक्षिणेन्द्र होने के कारण पूर्व और दक्षिण के मध्य में निवास करता है। वह यहाँ से अपने शासन का संचालन करता है। इस दिशा में इसके 40 लाख भवन हैं जिनमें ईशान दिशा की ओर जिनमन्दिर बने हुए हैं।[36]

अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि अग्निकुमार देव का स्वभाव भी अग्नि

की तरह गर्म, तेजयुक्त होता है जिस कारण वह जिस स्थान में रहता है, उस स्थान को भी अपने तेज से गर्म कर देता है जिसे आग्नेय विदिशा के नाम से भी जाना जाता है तथा इसमें भोजनशाला विद्युत उपकरण अग्नि संबंध भी कार्य करने का निर्देश दिया गया है। यदि दूसरे पक्ष से देखें तो प्राकृतिक कारण भी नजर आता है। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार सूर्य का विमान अर्द्धचन्द्राकार है[37] जिससे सूर्यकान्त मणि के कारण प्रातः सबसे पहले सूर्य अपनी किरण से ऐशान, पूर्व तथा आग्नेय दिशा–विदिशा को प्रभावित करता है। तल भाग से अग्नि इन्द्र के स्वभाव के कारण से पृथ्वी का आग्नेय कोण तप्त रहता है तथा ऊपर से सूर्य की तप्त किरणें उसे तप्तायमान कर देती हैं जिससे उसका ऊष्णपना सदैव बना रहता है।

दक्षिण दिशा

पूर्व दिशा के दाएं भाग को दक्षिण दिशा कहतें हैं। दक्षिण दिशा से ही सूर्य अपना चक्कर लगाना प्रारम्भ करता है। इस कारण वह दक्षिणायन होता है तथा जिनमन्दिर में भी पूर्व से दक्षिण की ओर होकर परिक्रमा लगायी जाती है। घूमने वाले जितने भी उपकरण हैं वह दक्षिण की ओर से ही प्रदक्षिणा देते हैं। वास्तव में प्रकृति का चक्र ही दक्षिणावर्त है, सूर्य का भ्रमण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, उसी के अनुकरण पर घड़ी चलती है, बिजली का पंखा चलता है, चक्कर काटने वाली हर चीज दक्षिणावर्त चलती है, जब तक कि कोई विशेष व्यवस्था न की गई हो। तिलोयपण्णत्ती में दक्षिण दिशा के स्वामी के विषय में कहा है– ''पाण्डुक वन के मध्य में चूलिका के पास दक्षिण दिशा की ओर अंजन नामक भवन है। इसका विस्तारादिक पूर्वोक्त भवन के ही सदृश है तथा अंजनभवन के मध्य में अरिष्ट नामक विमान का प्रभु यम नामक लोकपाल काले रंग की वस्त्रादिक सामग्री सहित रहता है तथा वहाँ अरिष्ट विमान के परिवार विमान 6 लाख 66 हजार 666 है[38] तथा वहाँ पर दक्षिण दिशा में प्रतीन्द्र का निवास स्थान भी बना हुआ है''।[39]

इस प्रकार दक्षिण दिशा का स्वामी प्रभु यम नामक लोकपाल को निर्धारित किया गया। वास्तुकारों ने भी दक्षिण दिशा के स्वामी का नामोल्लेख यम ही किया है। वैदिक परम्परा में यम यमराज का द्योतक है जो व्यक्ति के प्राणहरण का कार्य करता है। परन्तु जैन दर्शन में यम लोकपाल मात्र रक्षक देव है जो सौधर्म इन्द्र के विमान की दक्षिण दिशा की रक्षा करता है। प्राणहरण करने वाला नहीं है। जैन दर्शन में समाधिमरण प्राप्त साधक को अंतिम समय में दक्षिण दिशा की ओर पैर करके शयन की आज्ञा दी गयी है तथा दक्षिण दिशा में पैर करने से प्राण

अत्यधिक सरलता से निकल जाते हैं, ऐसी मान्यता है। परन्तु दक्षिण दिशा का स्वामी यम प्राण हरण करता है यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है। इसका कोई अन्य कारण अवश्य होगा।

नैऋत्य दिशा

दक्षिण और पश्चिम के मध्य की विदिशा को नैऋत्य विदिशा कहते हैं। वैदिकों में नैऋत्य दिशा का स्वामी निऋति माना गया है जिसका संस्कृत अर्थ क्षय या विनाश होता है।[40] यह दिशा दक्षिण पश्चिम हवाओं के कारण से सदैव विनाश को प्राप्त होती है। नैऋत्य दिशा में त्रायस्त्रिंश जाति के देव एवं परिषद् जाति के देवों के निवास स्थान हैं।[41]

पश्चिम दिशा

पश्चिम का अर्थ है पश्चभाग अर्थात् पूर्व दिशा के पीछे का भाग पश्चिम कहलाता है। इसका स्वामी वरुण है। इसका स्वभाव चंचल है।[42] तिलोयपण्णत्तीकार ने पश्चिम दिशा के विषय में कहा है कि पाण्डुक वन के मध्य में चूलिका के पास पश्चिम दिशा में पूर्वोक्त भवन के सदृश व्यासादि सहित हारिद्र नामक प्रासाद है। उस प्रासाद में सदैव कुछ कम तीन पल्य प्रमाण आयु का धारक जलप्रभ नामक विमान का प्रभु वरुण नामक लोकपाल रहता है। जलप्रभ विमान के परिवार विमान 6 लाख 66 हजार 666 हैं।[43]

वायव्य दिशा

पश्चिम दिशा और उत्तर दिशा के मध्य का भाग वायव्य विदिशा कहलाती है। यह वायुकुमार देवों के इन प्रभंजन कुमार का निवास स्थल है जो उत्तरेन्द्र है। इसके 46 लाख भवन हैं।[44] वायुकुमार देवों की प्रकृति अनुमानत: वायुकारक है तथा प्राकृतिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो उत्तरी पश्चिम हवाओं का प्रकोप सदैव बना रहता है जिससे वायु का दबाव इस दिशा में अधिक होता है। तिलोयपण्णत्तीकार ने सौधर्म स्वर्ग के वायव्य कोण में सामानिक देवों का निवास बताया है।[45]

उत्तर दिशा

उत्तर दिशा सभी फलों को देने वाली सुखदायी दिशा है। इसका स्वामी कुबेर होता है। जो लोक व्यवहार में धन का देवता माना गया है। उत्तर दिशा में ही जैनमत के अनुसार विदेह क्षेत्र विद्यमान है। जहाँ सदैव तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं। तिलोयपण्णत्ती में उत्तर दिशा के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस पाण्डुक वन के मध्य में चूलिका के पास उत्तर विभाग में पूर्वोक्त भवन के सदृश विस्तार वाला पाण्डुक नामक प्रासाद है। उस उत्तम प्रासाद में कुछ कम

रहता है तथा वल्गुप्रभ नामक उत्तम विमान के परिवार विमान 6 लाख 66 हजार 666 है तथा उस वन के मध्य में चूलिका से पूर्व की ओर सौ कोस प्रमाण उत्तर दक्षिण दीर्घ और पचहत्तर कोस प्रमाण ऊँचा जिनेन्द्र प्रासाद है।[46] इस प्रकार उत्तर दिशा कुबेर का निवास स्थान होने के अतिरिक्त जिनेन्द्र भगवन्तों के जिनभवन का स्थान भी है तथा विदेह क्षेत्र की मुख्य दिशा भी यही है।

ब्रह्म स्थान

सभी दिशाओं के मध्य बिन्दु को ब्रह्म स्थान कहते हैं। यह वास्तु पुरुष का मर्मस्थान भी कहलाता है। इस स्थान में किसी भी प्रकार का कार्य करना अशुभ माना गया है। तिलोयपण्णत्तीकार ने कहा है कि -

बम्हुत्तरहेट्ठुवरिं रज्जु घणा तिण्णि होंति पतेक्कं।
लंतव कप्पम्मि दुगं रज्जु घणो सुक्क कप्पम्मि॥

अर्थात् ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर का क्षेत्र समान माप वाला है अर्थात् यह स्वर्ग का केन्द्र बिन्दु है।[47] यहाँ पर एकभावातारी लोकान्तिक देव निवास करते हैं जो ब्रह्मचारी होते हैं तथा इनका स्थान अत्यधिक पवित्र है। यह स्वर्ग प्रथम स्वर्ग से 3.5 रांजू प्रमाण है।

इसीलिए गृह या मंदिर के केन्द्र बिन्दु में किसी भी प्रकार का निर्माण कार्य नहीं करते तथा गृह के मध्य में पौधे आदि लगवा देते हैं जिससे किसी के पैर उस पर न पड़ें तथा मंदिर के मध्य में वेदिका आदि बनवा कर उसकी अविनय होने से बचाते हैं।

यह सभी स्थानों को स्वर्गों के स्थानों से तुलना करने का तुच्छ प्रयास है। वैदिक मान्यता में देवों को पूजनीय मान कर दिशाओं की पूजा करने की परम्परा है जो जैनदर्शन की मान्यता से पृथक् है। अतः स्वर्गों को देवों के स्थान का प्रतीक माना है न कि देवों का निवास माना है।

जिनालय एवं जिनबिंब निर्माण के लाभ

जिनप्रतिमा का निर्माण कराने से जीव संसार के पार उतरता है। जिनभवन की टीका, छाप और आरस पलस्तर करने से समीहित स्थान की प्राप्ति होती है। जो जिनभवन को सफेदी कराकर धवल करता है उसका यश कहीं भी नहीं समाता। शरद् ऋतु से मिली हुई किरणों का समूह समस्त जगत् को धवलित कर देता हैं। जो मनुष्य जिनवर की प्रतिष्ठा करता है, उसकी कीर्ति जगत् में फैलती है। पूर्णमासी के चन्द्र के गुणों से प्रसार को प्राप्त होती हुई समुद्र की तरंगों को कौन रोक सकता है? जो जिनदेव की आरती करता है, उसका सम्यक्त्व उद्योत होता

है। सुर गिरि की प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य समस्त भुवन को प्रकाशित करता है। जिनभवन पर तिलक देने से अर्थात् शिखर पर कलशा चढ़ाने से जगत् में उसका अनुराग नहीं समाता जैसे चंद्रकांत मणि चन्द्रमा की किरणों से मिलकर पानी देने से नहीं रुकता है। जिन भगवान् को चढ़ाये हुए मणि मंडित विशाल चन्दोवा ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे ग्रह और तारागण की माला चन्द्रमा से सम्बद्ध हुई हो। जिनमंदिर में बजता हुआ घंटा भव्यजनों का उत्साहवर्धक एवं पापहारक होता है। पूर्ण चन्द्र वाली रात्रि कुमुदों को आनन्द देनेवाली और अंधकार को हरने वाली होती है। जिन भगवान् को ध्वजा, चमर और छत्र चढ़ाने से राज्य प्राप्त होता है। यदि प्ररोहों, जटाओं के निकलने से वट वृक्ष विस्तृत हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

जिनमंदिर में मांडने लिखने से मनोवांछित लक्ष्मी प्राप्त होती है और महापुण्य होता है। उसके फल को कहने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। जम्बूद्वीप, समवसरण, नंदीश्वर द्वीप और तीनों लोकों की रचना को जिनेन्द्र भवन में लिखवाने से सकल दुःखों की हानि होती है।[48]

निष्कर्ष-

जैन दर्शन में जीव दो कारणों के कारण संसार में जीवन यापन करता है- प्रथम उपादान कारण एवं द्वितीय निमित्त कारण। आत्म परिणामों को उपादान कारण कहते हैं तथा आत्मपरिणामों में जिनकारणों से परिवर्तन होता है उसको निमित्त कारण कहते हैं। जिस जीव के पास केवल उपादान कारण की प्रबलता पाई जाती है उन्हें मुक्त जीव कहते हैं तथा जिसके पास केवल निमित्त कारण की प्रबलता रहती है वे अजीव कहलाते हैं। परन्तु जिसके पास निमित्त और उपादान दोनों कारणों की प्रबलता रहती है वे संसारी जीव कहलाते हैं।

उदाहरण स्वरूप मुक्त जीव उपादान कारण की प्रबलता से निमित्त कारण कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा जिनमें मात्र निमित्त कारण हैं, उसे भोगने की क्षमता उपादान कारण में नहीं है वे अजीव द्रव्य कहलाते हैं तथा कर्म रूपी निमित्त हेतु के कारण आत्म परिणाम रूपी उपादान कारण में परिवर्तन जिनके होता है वे संसारी जीव हैं।

संसारी जीव के जीवन में कभी उपादान की प्रबलता अधिक होती है तो कितने भी निमित्त मिलें, विजय उपादान की होती है तथा कभी निमित्त की प्रबलता अधिक होने से कितना भी पुरुषार्थ करे निमित्त की विजय होती है।

वर्तमान युग में जनमानस में निमित्त की प्रबलता अधिक प्रगाढ़ होती जा रही है।

वर्तमान युग में जनमानस में निमित्त की प्रबलता अधिक प्रगाढ़ होती जा रही है। लोगों का कर्म सिद्धांत से विश्वास उठता जा रहा है। वह निमित्त की क्रियाओं जैसे वास्तु विधान, ज्योतिष, क्रियाकर्म आदि क्रियाओं को अधिक महत्त्व दे रहा है और स्वयं के भाग्य पर विश्वास ही नहीं करता। इसकी अपेक्षा यदि मानव भाग्य पर विश्वास कर पुरुषार्थ करता है तो जीवन में अधिक सफल होता है।

जीवन में बहुत अधिक अवसर आते हैं कि जब व्यक्ति को कुछ क्रियाओं को भाग्य के सहारे छोड़ना पड़ता है तो कुछ पर स्वयं पुरुषार्थ करना पड़ता है। जीव पाप के उदय से दुःख पाता है तथा पुण्य के उदय से सुख का अनुभव करता है। जब जीव के पाप का उदय होता है तो अनेक ऐसे निमित्त उपस्थित हो जाते हैं जो पूर्व में सुख के कारण थे परन्तु वर्तमान में दुःख के कारण हो जाते हैं। जहाँ जीव के उपादान की मुख्यता होती है वहीं निमित्त भी कार्यकारी होता है। जैसे पुण्य का संचय करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् का मंदिर बनवाना तथा यथायोग्य पूजा आदि करना तथा पाप का संचय करने के लिए कत्लखाने आदि का खोलना आदि कार्य के निमित्त से पुण्य-पाप रूप उपादान में शक्ति आती है।

इन निमित्तों को देखकर ही आचार्यों ने वास्तु एवं ज्योतिष का कथन किया जिससे जीव उचित समय में सम्यक् स्थान का चयन करके शुभोपयोग में आत्मपरिणाम को लायें जिससे पुण्य का उपार्जन हो तथा जिनमंदिर आदि पूजा के एवं साधर्मियों के योग्य धार्मिक स्थानों का चयन कर निर्माण कराकर सातिशय पुण्य का उपार्जन कर परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति करें।

सन्दर्भ :

1. राजवार्तिक, अध्याय-9, सूत्र-25, वार्तिक-3, पृष्ठ-624
2. बृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ-101
3. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलगाथा-283,सम्पा.– पं. महेन्द्र कुमार पारणी, श्री वीतराग विज्ञान प्रकाशिनी ग्रन्थमाला, खण्ड 9, वी.नि. 2500
4. वस निवासे, नामक परस्मैपदी धातु, पाणिनि व्याकरण के अनुसार, प्रथम भ्वादिगण, सिद्धान्त कौमुदी सूत्र-1074
5. तिलोयपण्णत्ती, भाग-1, पृष्ठ-268
6. वत्थुविज्जा, मंदिर शिल्प, पृष्ठ-125
7. तिलोयपण्णत्ती, भाग-2, गाथा-1870-71, 77 अधिकार चतुर्थ पृष्ठ -526-27
8. वत्थुविज्जा, मंदिर शिल्प, पृष्ठ -108
9. त्रिलोकसार गाथा- 978
10. बृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ-124
11. त्रिलोकसार गाथा-214-16

13. वही, 502- 03
14. वही, 639
15. वही, 648
16. तिलोयपण्णत्ती, भाग-3, गाथा-137-40, अधिकार-8, पृष्ठ -374, बृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ-127
17. त्रिलोकसार गाथा-489
18. वही, 490
19. वही, 491
20. वही, 492
21. वही, 493
22. वही, 507
23. वही, 508
24. वही, 515
25. उमास्वामी श्रावकाचार, श्लोक, 97-122, श्रावकाचार संग्रह भाग-3, पृष्ठ-160-162
26. वही, श्लोक -154, श्रावकाचार संग्रह भाग-3, पृष्ठ -165
27. वत्थुविज्जा, मंदिर शिल्प, पृष्ठ-130
29. आदिनाथ पुराण, पृष्ठ -359, पर्व 16,भाग-1, श्लोक 149-150
30. तिलोयपण्णत्ती, भाग-1, गाथा-285, पृष्ठ -120
31. वही, भाग-1, गाथा-200, पृष्ठ -64
32. त्रिलोकसार, गाथा-548, पृष्ठ -239
33. निर्लेपस्य जिनेन्द्रस्य व्योम मूर्तेरमहाध्वरे ।
    व्योम केशस्य दिग्भागं कुर्महेदर्भ गर्भितम्।। जिनेन्द्र पूजा विधान, 10
34. तिलोयपण्णत्ती, भाग-3, अधिकार, गाथा-1839, पृष्ठ-4
35. वही, भाग-1, गाथा-1840, अधिकार 4,पृष्ठ -520
36. वही, भाग-2, गाथा-1864 1865, अधिकार 4, पृष्ठ -520
37. वही, भाग-1, गाथा-17, 20, अधिकार 3, पृष्ठ -269, 270
38. वही, भाग-3, गाथा-66, अधिकार 5, पृष्ठ -257
39. वही, भाग-2 गाथा-1843-45, पृष्ठ -521
40. वही, भाग-2 गाथा-1976, पृष्ठ -542
41. संस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ -520
42. तिलोयपण्णत्ती, भाग-2 गाथा-1981-982, पृष्ठ -543
43. वही, भाग-1, गाथा-1847-49, अधिकार 4,
44. वही, भाग-2, गाथा-1871-73, अधिकार 4,
45. वही, भाग-2, गाथा- 19, 21 अधिकार 4,
46. वही, भाग-1, अधिकार -4, गाथा- 1851-53
47. वही, भाग-1, अधिकार -1, गाथा-209,
48. वही, भाग-1 गाथा-210, पृष्ठ -69
49. वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक -192-202, श्रावकाचार संग्रह भाग-1, पृष्ठ -500-501

सन्दर्भ :

1. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ , दिल्ली, 1999
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आचार्य कार्तिकेय स्वामी, सम्पा.-ए.एन.उपाध्ये, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, 1997
3. तिलोयपण्णत्ती, आचार्य यतिवृषभ, सम्पा.-हीरालाल जैन एवं ए. एन. उपाध्ये, संस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापुर, 1951
4. त्रिलोकसार, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, भाषाकार -पं. श्रीटोडरमल जी, प्रका. -हिन्दी जैनसाहित्य प्रसारक कार्यालय, हीराबाग पो. गिरगांव बम्बई 1918
5. बृहद्द्रव्य संग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, टीका-ब्रह्मदेव सूरि, प्रका.- श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल अगास, वीर निर्वाण संवत् 2492
6. राजवार्तिक, आचार्य अकलंकदेव, सम्पा.-प्रो. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्रका.-भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1953
7. श्रावकाचार संग्रह, सम्पा.- पं. हीरालाल शास्त्री, प्रका.-जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापुर, 1988
8. वत्थुविज्जा, मंदिर शिल्प, आर्यिका विशुद्धमती माताजी, प्रका.-भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, 2000
9. वास्तु चिंतामणि, आचार्य देवनन्दि, सम्पा.-नरेन्द्र कुमार बड़जात्या, श्री प्रज्ञाश्रमण दिगम्बर जैन संस्कृति न्यास, नागपुर, 1996
10. संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 2008.
11. सिद्धान्त कौमुदी, पाणिनि

****

तत्त्व विद्या के त्रिआयामी आधार–जीव, जगत् एवं उनका अन्तःसम्बन्ध

डॉ. रामनेरश जैन

किसी भी दर्शन की द्रव्यमीमांसा को उसकी तत्त्वमीमांसा का मूल आधार माना गया है। जैन दर्शन मान्य षट्द्रव्य में सम्पूर्ण सृष्टि आ जाती है। इसमें जीव, जगत्, ईश्वर अथवा ब्रह्मा एवं ब्रह्माण्ड सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। इसलिए आत्मा, परमात्मा एवं जगत् के स्वरूप को समझने के लिए द्रव्य के स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने के साथ-साथ जीव, जगत् एवं उनके अंतःसंबन्धों को भी समझना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने आगमिक आधारों पर द्रव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए यह समझाने का प्रयास किया है कि द्रव्य के अभाव में जीव एवं जगत् की व्याख्या नहीं की जा सकती है। - **सम्पादक**

भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन दोनों ने तत्त्वमीमांसा को दर्शन का मुख्य आधार माना है। तत्त्वमीमांसा की नींव पर ही ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा का प्रासाद निर्मित हो सकता है। तत्त्व के मूलस्वरूप की मीमांसा करना तत्त्वमीमांसा का कार्यक्षेत्र होता है। जब तक तत्त्व के मूल स्वरूप का निर्धारण नहीं होता, तब तक दर्शन की आगे की सभी शाखाएँ आधारहीन ही रहेंगी। इस दृष्टि से जैनदर्शन में द्रव्यमीमांसा को जैनदर्शन के मूलाधार के रूप में अभिहित कर सकते हैं।

द्रव्यमीमांसा दार्शनिक जगत् का प्रमुख विमर्शनीय विषय रहा है। सभी दार्शनिकों ने अपने दर्शन के आलोक में इसका सम्यक् अवलोकन किया है। द्रव्यमीमांसान्तर्गत जीव, जगत् एवं उनके अंतःसंबन्धों पर चर्चा की जाती है, जो जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में निम्नवत् है–

'द्रव्य' शब्द का अर्थ

भारतीय एवं पाश्चात्य परम्पराओं में द्रव्य शब्द का विशद् विवेचन प्राप्त होता है। अमरकोश एवं हेमचन्द्राचार्य के अभिधानचिन्तामणि नाममाला में धन के अर्थ में 'द्रव्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] शिवराम आप्टे महोदय ने 'द्रव्य' शब्द का अर्थ सृष्टि भी किया है। सूत्रकृतांग में द्रव्य शब्द भव्य या बंधन-मुक्त प्राणी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[2] पंचाध्यायी में सत्ता, सत्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि–ये नौ शब्द द्रव्य के एकार्थक के रूप में स्वीकृत किये हैं।[3]

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

सामान्यतः 'द्रु' धातु से यत् प्रत्यय लगाने पर निपातन से द्रव्य शब्द की सिद्धि होती है। द्रु=वृक्ष या काष्ठ, वय=विकार या अवयव अर्थात् वृक्ष या काष्ठ का विकार। द्रव्य शब्द को इवार्थक निपात मानना चाहिए। **'द्रव्यं भव्य'** इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो, वह द्रव्य है, यह समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार बिना गांठ की सीधी 'द्रु' अर्थात् लकड़ी बढ़ई आदि के निमित्त से टेबल-कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी उभय (बाह्य और आभ्यन्तर) कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है, जैसे पाषाण खोदने से पानी निकलता है, यहाँ अविभक्त कर्तृकरण है, उसी प्रकार द्रव्य और पर्याय में भी समझना चाहिए।[4]

जैन साहित्य में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा कुछ अन्तर के साथ 'द्रव्य' शब्द की भिन्न-भिन्न अर्थों में व्युत्पत्ति की गयी है। आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में कहते हैं कि उन-उन सद्भाव पयार्यों को जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं, जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।[5]

आचार्य उमास्वामी[6] कहते हैं कि **सद्द्रव्य लक्षणम्** एवं **गुणपर्यायवद् द्रव्यम्** अर्थात् सत्तास्वभाव द्रव्य का लक्षण है एवं द्रव्य गुण पर्यायवान होता है। जितनी भी द्रव्य शब्द की व्युत्पत्तियाँ स्वीकार की गई हैं, वे द्रव्य में विद्यमान गुण और पर्याय को आधार मानकर स्वीकार की गई हैं। पर्याय को आधार मानकर की गई व्युत्पत्तियों का तात्पर्य है; जो विशेष पर्यायों को प्राप्त करता है। तत्त्वार्थवार्तिक में पर्याय को आधार मानकर द्रव्य शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो स्वतन्त्र कर्त्ता होकर अपनी पर्यायों को प्राप्त होता है अथवा अपनी पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, वह द्रव्य है।[7] इसी प्रकार गुण को आधार मानकर पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा गुणों को प्राप्त होगा, उसे द्रव्य कहते हैं।[8]

द्रव्यमीमांसा की आवश्यकता क्यों?

कर्त्ता, क्रिया और परिणाम यह एक घटनाक्रम है। कुछ घटनाओं में ये तीनों हमारे सामने होते हैं इसलिए वहाँ कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। जहाँ परिणाम सम्मुख नहीं होता वे घटनाएँ कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित करती हैं। इसका सबल उदाहरण हमारा विश्व है, जिसमें हम निवास करते हैं। यह विशाल भूमण्डल किसके कुशल और सशक्त हाथों की कृति है? ये उत्तुंग शिखर वाले पर्वत किसके हाथों द्वारा निष्पन्न हुए हैं? एवं यह अनन्त आकाश आदि किसके

द्वारा निर्मित है? इन सर्व प्रश्नों का समाधान पाने का प्रयत्न सम्पूर्ण दर्शन जगत् का विषय रहा है। चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य सभी दार्शनिकों ने इस सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया कि इस विश्व का मूल क्या है? दृश्यमान जगत् का कारण क्या है? यह क्यों है? इसका कर्त्ता कौन है?

इन सभी प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयत्न सभी भारतीय दार्शनिकों ने एवं पाश्चात्य दार्शनिकों ने किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों में से किसी ने विश्व का परम द्रव्य जल, तो किसी ने संख्या आदि स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन जगत् की दो धाराएँ–द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद हैं। उनमें से अद्वैतवादीधारा में जड़ाद्वैत तो जड़तत्त्व को ही सृष्टि का उपादान कारण मानता है एवं चैतन्य अद्वैतवादी चेतन तत्त्व को सृष्टि का मूल कारण मानता है। वेदान्त दर्शन भी इसी मत का समर्थक है। द्वैतवादी दर्शन जड़ और चेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इन दो तत्त्वों की समन्विति ही संसार है। जड़ एवं चेतन की पारस्परिक क्रिया से जगत् का निर्माण होता है।

न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन सृष्टि पक्ष में आरम्भवादी हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है। उनके संयोग का आरम्भ होने पर विश्व का निर्माण होता है। सांख्य और योग दर्शन परिणामवादी हैं। उनके अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है।

जैन दर्शन तो विश्व के सन्दर्भ में कहता है कि **पंचास्तिकाय मयोलोक**[9] अथवा **षड्द्रव्यात्मको लोक**[10] अर्थात् जिसमें जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य पाये जाते हैं, वह विश्व है। वहां सहज ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीव किसे कहते हैं?

जीवद्रव्य

तत्त्वार्थसूत्र में उपयोग का लक्षण बताते हुए कहा गया है 'उपयोगो लक्षणम्'[11] अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है एवं जो चेतयिता, उपयोग विशेष वाला है, वह जीव है।[12] समयसार में अरस, अरूपी, अगंध स्वभाव वाला जीव को कहा है।[13] एवं द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्राचार्य[14] सर्व परिभाषाओं को समादृत करते हुए कहते हैं –

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

अर्थात् जो उपयोगमय, अमूर्त्त, कर्त्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसार में स्थित

सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

अजीव द्रव्य

जो चेतना लक्षण से रहित हो, उसे अजीव कहते हैं। ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य को अजीव द्रव्य जानना चाहिए इनमें पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिमान है, क्योंकि रूप आदि गुणों का धारक है, शेष चारों द्रव्य अमूर्त्त हैं।।[15]

पुद्गल द्रव्य

'पुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति पुद्+गल अर्थात् संघात/संयुक्त और गल=गलन अर्थात् संयुक्त और वियुक्त से हुई है। तत्त्वार्थसूत्र में **'रूपिणाः पुद्गलः'**[16] कहकर पुद्गल को परिभाषित किया गया है। राजवार्तिक[17] में कहा है कि जो भेद और संज्ञात से पूरण और गलन को प्राप्त हो वह पुद्गल है, यह पुद्गल द्रव्य की अन्वर्थ संज्ञा है। द्रव्यसंग्रह[18] की टीका के अनुसार **'गलनपूरणस्वभावत्वाच्चुद्गलः'**[19] अर्थात् जो गलन और पूरण स्वभाव से सहित हो वह पुद्गल है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाया जाये वह पुद्गल[20] है। पुद्गल द्रव्य का स्वरूप बताने के पश्चात् उमास्वामी[21] ने पुद्गल की पर्यायें–छाया, आतप और उद्योत–बताई हैं। द्रव्यसंग्रह[22] में भी इन्हें पुद्गल की पर्याय बताया गया है।

पुद्गल के दो भेद हैं–**अणवः स्कन्धाश्च**[23] –अणु और स्कन्ध।

अणु–पुद्गल का वह अविभाजित अंग, जिसके दो भाग न किये जा सकें, वह अणु है।

स्कन्ध–दो या दो से अधिक परमाणुओं के बन्ध को स्कन्ध कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य के उपकार

शरीर, मन, वचन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है।[24] **सुख-दुःख जीवितमरणोपग्रहाश्च**[25] अर्थात् सुख-दुःख और जीवन-मरण–यह भी पुद्गलों के उपकार हैं। ये सुखादि जीव के पुद्गलकृत उपकार हैं, क्योंकि मूर्त्त कारणों के रहने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है।[26]

पुद्गल को जानने से लाभ

पुद्गल को जानने से यह लाभ है कि जो भी वस्तु है, पदार्थ है वह किसी के द्वारा निर्मित नहीं अपितु स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णमय है और प्रत्येक पदार्थ में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाया जाता है। चाहे हमें एक ही लक्षण क्यों न दिखाई दे परन्तु उस पदार्थ में पुद्गल के समस्त लक्षण घटित होंगे एवं जगत् में जो भी पदार्थ

अथवा वस्तु हमें आखों से दिखाई दे रही है वह सभी पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

धर्मद्रव्य

उत्तराध्ययन[27] में धर्म द्रव्य का लक्षण गति-क्रिया सहायक बताया गया है। पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी[28] धर्मद्रव्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि धर्मास्तिकाय अमूर्त्त है, इसमें स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण नहीं है, वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, असंख्य प्रदेशी है, गतिशील जीव और पुद्गलों की गति में वह सहायक है, जैसे–गमन करती हुई मछली का सहायक पानी है। द्रव्यसंग्रह में भी कहा है कि–

गइपरियाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।[29]

कार्यकारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए दो प्रकार के कारण आवश्यक हैं–उपादान और निमित्त। उपादान कारण वह है, जो स्वयं कार्यरूप में परिणत होता है, निमित्त कारण वह है जो कार्य के निष्पन्न होने में सहायक हो। यदि किसी पदार्थ की गति होती है तो उसमें उपादान कारण तो वह पदार्थ स्वयं है, किन्तु निमित्त कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए हमें कोई ऐसे पदार्थ की आवश्यकता होती है, जिसकी सहायता पदार्थ की गति में अनिवार्य हो। यदि हवा आदि को निमित्त कारण माना जाये तो यहाँ एक नया प्रश्न उठता है कि हवा आदि की गति में कौन निमित्त कारण है? यदि इसी प्रकार अन्य द्रव्य को निमित्त कारण माना जाये तो कारणों की परम्परा अनवरत रूप से चलती रहेगी और अनवस्था दोष का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए ऐसे पदार्थ की आवश्यकता है जो स्वयं गतिमान न हो। यदि पृथ्वी, जल आदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त कारण के रूप में माना जाए तो भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि वे पदार्थ समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। यह आवश्यक है कि गति-माध्यम के रूप में जिस पदार्थ को माना जाता है, वह सर्वव्यापी हो, इस प्रकार किसी एक द्रव्य की कल्पना करनी पड़ती है, जो–

1. स्वयं गतिशून्य हो,
2. समस्त लोक में व्याप्त हो,
3. दूसरे पदार्थों की गति में सहायक हो।

ऐसा द्रव्य धर्मद्रव्य है, जो स्वयं गतिशून्य है, समस्त लोक में व्याप्त है और दूसरे पदार्थों की गति में सहायता करता है।

अधर्म द्रव्य

अधर्म द्रव्य का स्वरूप भी धर्म द्रव्य जैसा ही है। मात्र उसके विशेष गुणों में अन्तर पड़ता है। धर्म-द्रव्य जैसे जीव और पुद्गल की गति में सहायक है, वैसे ही अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन रूप से सहायक होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में कहा है कि–

जह हवदि धम्मदव्वं तहं तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरिया जुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव॥[30]

उमास्वामी[31] एवं नेमिचन्द्राचार्य[32] ने भी इसी प्रकार अधर्म द्रव्य का लक्षण किया है।

धर्म और अधर्म द्रव्य की आवश्यकता

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार गति-स्थिति के निमित्त के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्यों की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोक-अलोक का विभाजन उन दो द्रव्यों के सद्भाव से होता है।[33] इसी की टीका में अमृतचन्द्राचार्य[34] कहते हैं कि लोक सीमित है और उससे आगे अलोकाकाश असीमित है, इसलिए पदार्थों की और प्राणियों की व्यवस्थित रूपरेखा को बनाए रखने के लिए आकाश के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व होना चाहिए। यदि गति और अगति का माध्यम आकाश को ही मानें तो फिर अलोकाकाश का अस्तित्व ही नहीं रहेगा और लोक-व्यवस्था का भी लोप हो जाएगा। इसी के आगे पंचास्तिकाय की 94वीं गाथा की टीका में कहा है कि आकाश गति स्थिति का हेतु नहीं है।[35] अतः सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करें तो षट्द्रव्य में से यदि पुद्गल स्वयं गतिशील है तो कालद्रव्य जो निश्चयकाल है, वह तो जीव-अजीव की पर्याय मात्र है और लोकाकाश-अलोकाकाश में विद्यमान है एवं व्यवहारकाल तो सीमित है। अतः कालद्रव्य भी गति-स्थिति में सहायक नहीं है।

आकाश द्रव्य तो स्वयं विभाज्य है एवं उसमें अवगाहनत्व की क्षमता है। अतः यह भी गति स्थिति में सहायक नहीं है। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय–ये दोनों ही गति और स्थिति की दृष्टि से द्रव्य का विभाजन करते हैं। जहाँ-जहाँ ये दोनों द्रव्य विद्यमान हैं, वहाँ-वहाँ जीव और पुद्गल गति करते हैं और स्थिर रहते हैं। जहाँ इनका अस्तित्व नहीं है, वहाँ कोई भी द्रव्य गति-स्थिति नहीं करता है। इसलिए कहा गया है कि धर्म-अधर्म द्रव्य को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है, इसीलिए इन्हें विभक्त-अविभक्त और लोकप्रमाण कहा गया है।[36]

धर्म और अधर्म द्रव्य को जानने से लाभ

गौतम ने पूछा–भगवान्! गति सहायक तत्त्व धर्मास्तिकाय से जीवों को क्या लाभ होता है? भगवान् ने कहा–गौतम! यदि गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलतीं? आँखें कैसी खुलतीं? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल हैं उन सबका आलम्बन गति सहायक तत्त्व ही है।[37]

गौतम ने भगवान् से पूछा–स्थिति सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा कि गौतम! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता? कौन बैठता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन रहता? कौन निष्पन्दन में रहता? यह विश्व चलायमान ही होता। जो स्थिर है उन सबका आलम्बन स्थिति सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय ही है।[38]

आकाशद्रव्य

जैनदर्शन में आकाश को आकाशास्तिकाय भी कहा जाता है। विश्वसंरचना के घटक द्रव्यों के सन्दर्भ में आकाश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व अधिकांश दर्शन और विज्ञान निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। यद्यपि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद हैं पर अस्तित्व के सम्बन्ध में सब एकमत हैं। आकाश का लक्षण अवगाहनत्व है। भगवान् महावीर ने कहा है कि जो सब द्रव्यों को युगपत अवकाश देता है, एवं सर्वद्रव्यों का आलम्बन है वह आकाश है।[39]

आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि **नित्यावस्थितान्यरूपाणि**[40] अर्थात् आकाशद्रव्य नित्य, अवस्थित, अरूपी, निष्क्रिय[41] अखण्ड द्रव्य है और अवगाह देना उसका उपकार है।[42] कुन्दकुन्द स्वामी[43] और नेमिचन्द्राचार्य[44] भी कहते हैं कि जो जीव पुद्गलों और समस्त द्रव्यों को अवकाश देता है, वह आकाश है।

आकाश के भेद

आकाश द्रव्य के मुख्यतः दो भेद हैं–1. लोकाकाश, 2. अलोकाकाश। आकाश द्रव्य एक अखण्ड ही है परन्तु जीव और पुद्गलों की अपेक्षा से दो भेद स्वीकृत किये हैं। लोकाकाश, अलोकाकाश को परिभाषित करते हुए द्रव्यसंग्रहकार कहते हैं कि–

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवाय संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।।[45]

अर्थात् जिसमें धर्म-अधर्म आदि द्रव्य निवास करते हैं वह लोकाकाश है एवं लोकाकाश के बाहर अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

आकाश द्रव्य के जानने से लाभ

भगवती सूत्र में गौतम ने भगवान् से पूछा कि भगवान् ! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ?

भगवान् कहते हैं कि गौतम!

1. आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ वर्त्तन करता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता? यह विश्व निराधार ही होता।[46]

2. आकाश द्रव्य को जानने से द्वितीय लाभ यह है कि इस आकाश को किसी ने नहीं बनाया है, यह लोक आदि तथा अन्त से रहित है न किसी से विनाशित है, न कोई इसे धारण कर सकता है?

अतः छह द्रव्यों में सबसे अधिक व्यापक, विशाल, विराट और सब द्रव्यों का आधारभूत द्रव्य आकाश है। सबके साथ रहते हुए भी उसका अपना अस्तित्व स्वतन्त्र है और उसका परिणमन अपनी पर्यायों में होता है। द्रव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्व में स्थित रहता है, पररूप में कदापि प्रवर्तन/गमन नहीं करता है, न कभी हुआ है, न कभी होगा।

कालद्रव्य

समस्त भारतीय दर्शनों ने काल को अपनी तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत किया है। वैशेषिक दर्शन ने नौ द्रव्यों में काल को भी एक द्रव्य माना है। उनके अनुसार काल एक नित्य और व्यापक द्रव्य है।[47] नैयायिकों ने भी काल को नित्य माना है। उनके अनुसार परत्व, अपरत्व आदि काल के लिंग हैं।[48] सांख्यदर्शन ने काल नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं स्वीकार किया है। जड़ जगत् प्रकृति का विकार है। सांख्य दर्शन इस रूप में ही काल को मानता है। जैन दर्शन छह द्रव्यों में काल को भी द्रव्य के रूप में मानता है।

कालद्रव्य के भेद

काल द्रव्य के दो भेद करते हुए तिलोयपण्णत्ती में यतिवृषभ कहते हैं कि **'कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हुवंति एदेसुं'।**[49] सर्वार्थसिद्धि में भी काल को निश्चयकाल और व्यवहारकाल दो रूप में विभक्त किया है।[50] कालद्रव्य का लक्षण बताते हुए नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं कि–

दव्वपरिवट्टरुवो जो सो कालो हवइ ववहारो।
परिणामादी लक्खो वट्टणलक्खोयपरमट्ठो॥

अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है वह तो व्यवहार

काल है एवं वर्तना लक्षण का धारक जो काल है, वह निश्चयकाल है।[50] ध्यातव्य है कि दिगम्बर परम्परा ने निश्चय-कालद्रव्य को द्रव्य और पर्याय रूप में स्वीकृत किया है एवं माना है कि कालद्रव्य के रूप में लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। श्वेताम्बर परम्परा में निश्चयकाल द्रव्य को, जो जीव पुद्गल आदि द्रव्यों में प्रत्येक समय में प्रतिसमय परिणमन होता रहता है, मात्र पर्यायरूप में स्वीकृत किया गया है।

द्रव्य व्यवस्था को जानने से लाभ

1. समस्त द्रव्य अपने स्वभाव रूप परिणमन करते हैं पर रूप परिणमन नहीं। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता।
2. द्रव्यों का परिणमन स्वतः होता है कोई भी किसी भी द्रव्य का कर्त्ता, धर्ता, हर्ता नहीं है।
3. विश्व षड् द्रव्यात्मक है इसको किसी ने नहीं बनाया। यह अनादिनिधन है।
4. यह विश्व अनादिनिधन है इसका कभी विनाश नहीं होगा।

इस प्रकार जैन दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि षट्द्रव्य में सम्पूर्ण सृष्टि आ जाती है। जीव, जगत् एवं ईश्वर अथवा ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड सब कुछ इसमें समाविष्ट हो जाता है। इसलिए आत्मा, परमात्मा एवं जगत् के स्वरूप को समझने के लिए एवं उसके कारणों को समझने के लिए द्रव्य का यथार्थ परिज्ञान करना आवश्यक है। उसे समझे बिना व्यक्ति जीवन का अथवा आत्मा का विकास नहीं कर सकता। अतः इन सब सन्दर्भों से यह निश्चित है कि द्रव्य के अभाव में जगत् एवं जीव की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

सन्दर्भ :

1. धुम्नं द्रव्यं वृक्थमृक्थं स्वमृक्णं द्रविणं धनम्। -अभिधानचिन्तामणि कोश, 2/106
2. दविए बंधणमुक्के छिणबंधणे। सूत्रकृतांग, 1/8/10
3. सत्तासत्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचकार्थ अमी शब्दाः। पंचाध्यायी, 1/143
4. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग-2, पृ. 453
5. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावफज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो। पंचास्तिकाय, 1/9
6. तत्त्वार्थसूत्र, 5/29, 5/38
7. स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम्। राजवार्तिक, 1/29
8. गुण समुदायो द्रव्यमिति ननु गुणान्द्रवन्ति गुर्णेर्वा द्रूयन्त इति।

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपादस्वामी, 5/2,
9. भगवती, 13/55
10. जैन सिद्धान्तदीपिका, 1/8
11. तत्त्वार्थसूत्र, 2/8
12. जीवोत्ति हवदि चेदा उपओग विसेसिद्दो पहूकत्ता। भोत्ता य देहमत्तो न हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो। -पंचास्तिकाय, 1/27
13. अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणगुणसमद्द। -समयसार, 1/49
14. द्रव्यसंग्रह, 1/2
15. अज्जीवो पुण णे ओ पुग्गलंधम्मो अधम्म आयासं। कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु।। -द्रव्यसंग्रह, 1/15
16. तत्त्वार्थसूत्र, 5/5
17. पूरणगलनान्वर्थ संज्ञत्वात् पुद्गलाः। -राजवार्तिक, 5/1/24
18. द्रव्यसंग्रह-टीका, 1/15, पृ. 39
19. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलः। -तत्त्वार्थसूत्र, 5/23
20. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोघोतवन्तश्च। -तत्त्वार्थसूत्र, 5/24
21. सद्दो बन्धो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया, उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया। -द्रव्यसंग्रह, 1/16
22. तत्त्वार्थसूत्र, 5/25
23. वही
24. शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्। सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च। तत्त्वार्थसूत्र, 5/19-20
25. वही
26. एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः, मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। सर्वार्थसिद्धि, 5/20
27. गइलक्खणोउधम्मो। उत्तराध्ययन सूत्र, 28/7
28. धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासां लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं। उदयं जहमच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए। तह जीवपुग्गलाणं धम्मंदव्वं वियाणेहि। पंचास्तिकाय, 83, 85
29. द्रव्यसंग्रह, 1/17
30. पंचास्तिकाय, 86-जह हवदि.....
31. गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकारः। तत्त्वार्थसूत्र, 4/17
32. ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गल जीवाण ठाणसहयारी छाया जह पहियाणं गच्छंताणेव सोधरई। द्रव्यसंग्रह, 1/18
33. जादो अलोगलेगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी। दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयभेत्ता या। पंचास्तिकाय, 87

34. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा-87, पृ. 138, प्रकाशक - पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
35. जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं। पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अत्तपरिवुड्ढी। पंचास्तिकाय, 94
36. पंचास्तिकाय, 87
37. भगवती, 13/4
38. वही, 13/4
39. भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं। उत्तराध्ययन सूत्र 28/9
40. तत्त्वार्थसूत्र, 5/3
41. निष्क्रियाणि च। तत्त्वार्थसूत्र, 5/6,
42. आकाशस्यावगाहः। वही, 5/18
43. सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च। जं चेदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं। पंचास्तिकाय, गाथा-90
44. अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं। द्रव्यसंग्रह, 1/19
45. द्रव्यसंग्रह, 1/20
46. भगवती, 13/4
47. न्यायकारिका, 45
48. वही, 46
49. तिलोयपण्णत्ती, 4/279
50. कालोहि विविधः परमार्थकालोव्यवहार कालस्य। सर्वार्थसिद्धि, 3/22/263/2
51. दव्य परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो।। द्रव्यसंग्रह, 1/21

****

WHO WERE THE ORIGINAL 'KṢATRIYAS'?

Capt. Vimal Jain

In India, the caste system is a system of division of labour and power in human society. It is system of social stratification. The Jatis were grouped by Brahmanical text under the four well-known cast category, viz. Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra. Kṣatriya is the second highest in ritual status of four Varṇās, or social classes. In this article the author has given a critical analysis of the genesis of the Kṣatriyas with its etymological meanings based on Vedic sources. - **The Editor**

Introduction

When we study the *Paurāṇic* literature, both Vedic and *Śramaṇic*, and also the stories/legends of that period, we find that there is a great deal of confusion of names, whether persons/locales or other objects. Although not commonly known, the use of the word 'Kṣatriya' when viewed in the light of available literature is one such example. Let us examine it in more details.

Background

Today, 'Kṣatriya' is one of the '*Varṇa*' out of four and is stated to have been derived from '*Kṣatra*' meaning thereby 'umbrella' or protection and thus denotes the warring caste providing security to society as against the priestly, business or worker classes; the other three *Varṇas*. The primary source of this is probably a *śloka* of *Manusmṛti* which reads as follows:

"Lokanāṁtuvivṛdhyarthaṁmukhabāhurupādataḥ/

Brāhmaṇaṁ, Kṣatriyaṁ Vaiśyaṁ, Śudraṁ ca nirvartyāt //[1]

Mmeaning: For the development of this world, (Brahmā) created

Brahmins from his mouth, Kṣatriyas from his Arms, Vaiśyas from his lower torso and the Śūdras from the feet. Apparently, there has been a major change in the usage of the word 'Kṣatriya ' since the ancient time. The social segregation/identification of different groups based on the 'calling' for the first time was given in *Ṛgveda*.[2] In these *ṛcās*, Brahmins/Vaiśyas/Śūdras are mentioned and have the same meaning as understood today, but the Kṣatriyas did not find a place in the *Ṛgveda*. Instead, in *Ṛgveda*, the word used is '*rājenya*' as a class signifying the 'kings' or 'Royalty'. One important change to be noted is that, originally, the '*varṇa*' was based on the 'calling' of an individual but today the '*varṇa*' is determined by 'birth' of an individual. A child born to 'Brahmin' parents remains a Brahmin even if he may be working as a menial. The two '*ṛcās*' of *Ṛgveda* mentioned above are:

'Yatpuruṣaṁvyadadhuḥkatidhāvyakalpvaṇ/
Mukhaṃkimasyakaubāhūkāurupādāṃuchyete//[3]
'Brāhmanoasyamukhaṃāsīḍbāhurājanyaḥkṛtaḥ/
Urutadasyayadvaiśyaḥpadbhyāṃśudroaṁjāyath//[4]

Analysis

When we examine *Maṇḍala* 10, *Sūkta* 90 of *Ṛgveda* closely, we find that there are some anachronisms in the composition. Firstly, the theme of this *Sūkta* is how the cosmos was created by using various limbs of '*Puruṣa*'. *Ṛcās* 11 and 12 are the only ones which talk of social segregation and not any part of the cosmos. These are also the only ones to be inserted in a question/answer form. Further, *ṛcā* 12 contradicts certain assertions of *ṛcā* 13 and 14. *Ṛcā* 12 states that the Brahmins were created from the mouth of *Puruṣa* and the '*Śudras*' were created from the feet. *Ṛcā* 13 and 14 state that Indra and Agni were created from the mouth and earth was created from the feet. *Ṛcās* 13 and 14 conform to the theme of *Sūkta* 90. One can

safely conclude that *Ṛcās* 11 & 12 are later additions to *Maṇḍala* 10, *Sūkta* 90. *Maṇḍala* 10 itself, as is well known, was added to *Ṛgvedva* in much later times. We can also conclude that the '*varṇa*' system as we know it today is a much later development than original *Ṛgveda. Ṛcās* 13 and 14 are given below for reference.

Candramāmānsojātaścakṣoḥsūryoajāyat/
mukhādindraśchāgniśchprāṇādvāyurjāyat//[5]
Nābhyāmāsīdantrikṣamśīrṣṇodyauḥsamvartat
padbhyāmbhūmirdiśaḥśrotrāttathālokāmakalpayan//[6]

According to 14th *ṛcā* - The *antarikṣa* (intermediate space between heaven and earth) was created from novel, the broad sky (space) from head, earth for feet and all directions from ear.

From *Paurāṇic* literature we also find:

a. Change of 'Brahmins to ruling class and vice-versa was common. Viśvāmitra, for example, was a '*rājenya*' who assumed the *Brāhmanic* role.

b. The anecdote about Paraśurāma (or Rāma -Jamadagnya of Viśvāmitra lineage) ridding the earth of 'kṣatriyas' twenty-one times.

From the above, it is clear that in those days the word '*kṣatriya*' was used for a class of people who were ethnically distinct from the Vedic people and that the two groups were inimical to each other. This is confirmed when we look at the Jain mythology. They, the Jains, strongly believe that 'Tīrthaṅkaras' or the emancipators of mankind could take birth only in a '*Kṣatriya*' *kula.* They cannot take birth in a Brahmin family or a lower family.[7] Herman Jacobi, in his *'Sacred Books of the East'*[8] translates thus.' ..It never has happened, nor does it happen, nor will it happen that *Arhats* ....be born of poor families...beggar families .. Brahmanical families .... "It is of interest to note that in this text, the words Vaiśya or Śūdra do not find a

mention. However, 'kṣatriya' *kula* is mentioned along with other *kulas* such as '*rājenya*', *harivaṁśa*, '*ikṣavāku*' etc. where a Tīrthaṅkara can take birth. Further, according to Śvetāmbaras, Mahāvīra was first conceived in the womb of a Brahmin lady Devānandā and the embryo had to be transferred to that of a Kṣatriya lady Triśalā, queen of King Siddhārtha, because of above compulsion.

Apart from above, there are a large number of stories in Jain mythology indicative of the enmity between the Brahmins and the Kṣatriyas of those days. The most outstanding being that of Cakravartī Subhhuma who rid the earth of Brahmins twenty-one times. Here one is immediately reminded of the *Brahmanic* story of Paraśurāma mentioned earlier who rid the earth of 'kṣatriyas' twenty-one times. This is indicative of the great divide between the Brahmins and the Kṣatriyas of that time.

Conclusions

Apparently, before the word 'kṣatriya' was adopted and assimilated into the Vedic stream, it was being used for the original local inhabitants, the '*śramaṇas*', who faced the Vedic people, the believers in *Brahma* and probably, in general called the 'Brahmins'. This is corroborated by observations of TITLE in his "*Outlines of History of Religions*" to the effect that earlier the word '*Brahmin*' was used for 'singers of sacred songs[9]" and not the caste. In its extended usage the word was probably employed in the generic sense for the Vedic people.

It also appears that, the word 'Kṣatriya' was a mutated form of '*Kṣetriya*', derived from '*Kṣetra*' which means the 'area' and *kṣetriya* would thus, have been appropriate word for the 'local' people, the original inhabitants as against the outsiders, the Vedic people. It is also interesting to know that '*Kṣetraja /kṣetriya*' was a term used to denote persons born out of '*Niyoga*'. Use of this term for their

adversaries to indicate a bit of disdain by the Vedics seems plausible. In the prolonged struggle between the two groups, the '*kṣetriyas*' were over-ridden and the word '*kṣetriya*' got absorbed as 'kṣatriya' in the *Brahmanic* diction.

The issue needs further research to give finality to the question as to who were the actual or the original 'kṣatriyas'?

References :

1. *Manusmṛti* 1.31
2. *Ṛgveda,* 1 0. 90.11-12
3. *Ibid* 10. 90.11
4. *Ibid* 10. 90.12
5. *Ibid* 10. 90.13
6. *Ibid* 10. 90.14
7. *Kalpasūtra* 1.17
8. *'Sacred Books of the East'* Max Muller, xxii page 225
9. *Jainism in North India'* by C. J. Shah, p.14

****

BHAKTI IN JAIN TRADITION

Dr. Kamini Gogri

Bhakti in Indian tradition has been described as one of the three paths of liberation, the others two being- Jñāna and Karma. Almost scholarship on Jains has approached Jain Bhakti as merely a 'borrowing' from the Hindu tradition. Because in the original fabric of Jainism, being a heterodox system, there was no place of Bhakti. Later on, with the impact of Hinduism, Bhakti crept in Jainism and worship of Tīrthaṅkaras as God became prominent. In this article the author has given a critical account of her observation on Bhakti based on Jain literature. **-The Editor**

Jainism being a representative of *Śramaṇa* tradition upholds the path of self-effort to achieve liberation. The path of self effort means an individual has to follow the twelve steps of *Nirjarā* (efflux) preceded by *Samyak-jñāna, Darśana* and *Cāritra* (right Knowledge, faith and conduct). This path is treaded by some individuals and they have attained salvation. Some of those who have attained liberation have shown this path to the masses; these are known as the Tīrthaṅkaras. In the due course of time these Tīrthaṅkaras who have shown the path started being worshipped by the masses and also the *Śramaṇas* themselves.

The human person lives at various levels; biological, psychological, rational and spiritual. At biological level it nurtures itself through food, water etc. At psychological level emotions plays an important role in shaping behavior of individual life. In the intellectual level a person caters to reason and in the spiritual realm all ceases and person is transformed completely.

Bhakti in Jain tradition is attached to the Tīrthaṅkaras, because at one level they provide a deep sense of security to the masses. This

leads them to worship, venerate, etc through expression of love, respect and gratitude. This in turn is expressed in form of music, dance and various other rituals.

Therefore, there is an apparent contradiction in Jainism when on one hand in the way of self-effort there is no place for personal God to be worshipped and on the other in the medieval period *Bhakti* became an important phenomenon in Jainism.

In both the major *Śramaṇa* traditions- Jainism and Buddhism, the Tīrthaṅkaras and Arhats, who propounded the non-theistic religions, were themselves worshipped like gods by lay devotees of both the religions installing their idols, constructing their temples and doing *Pūjā* with flowers etc. In the course of time it so happened in the Jain tradition that the Tīrthaṅkaras who propounded the religious path, which consisted of various austerities- both external and internal, now became the subject of worship in the form of their idols. More emphasis was placed on the external worship and the person involved in performing such worship were regarded as more religious. This practice was then justified on the grounds that such a veneration of the Tīrthaṅkaras reminds people of the virtues of those venerable ones and the way of living and the progressive path propounded by them. But it so happened that in the course of time the values were replaced by mere worship and it was believed that mere elaborate worship involving huge costly rituals (Various Pūjās) would open the way of liberation.

Loṅkā has questioned this type of idolatry in his *bola* which says that "*guṇa ārādhya che*" (virtue is worth respecting and acquiring). "According to Jain legends the practice of image worship in Jainism is as old as the religion itself. Jains like Buddhists, worship their Tīrthaṅkaras like God and erect statues in their temples.

Archaeological evidences relating to the temples of Jain images have been discovered at Mathura, which proves its existence as early as B.C.600".[1] "Though Jainism ruled out the existence of any form of God, it could not ignore emergence of contemporary Mahāvīra, Mahāyāna form of Buddhism which assigned the status of God to Buddha and received a positive response from laities. The spirit of competition led to an equally tremendous growth in the idol worship".[2]

"Even before the time of Lord Mahāvīra, there were traces of image-worship. The Indus valley civilization revealed innumerable sculptures in terracotta stone and bronze."[3] The archaeological evidences support the presence of idols in the Indus valley civilization. But the earliest reference of worship is the *yakṣa* worship, which was prevalent during Mahāvīra's times which even Loṅkā has mentioned in his *bolas.*

Along with *yakṣa* worship also came in idol worship. *Yakṣas* were local deities of non-Vedic character. Their worship was even present during the time of Mahāvīra. To appease the important sections of society, Jainism arranged a pantheon around its Tīrthaṅkaras and deities popular at mass level i.e. *yakṣas.*

Loṅkā in his *bola* - 56 has referred to *Vipāka-Sūtra, Bhagavatī-Sūtra* which mention the *yakṣa* worship. "Jainism was not some kind of an unchanging monolith; it was conditioned by the spirit of time and space. Between c. 200B.C. and c 300A.D. changes took place at the ascetic and the popular levels. In the first case differences are visible in the doctrinal changes and in the development within the Jain monastic order. At the popular level, the expansion of Jain pantheon, beginning of idol worship and various developments in the fields of arts point out the directions in which Jain popular activities were growing".[4]

With the growth of temple building all over India there grew a spirit of visiting them as places of pilgrimages specially those places where Tīrthaṅkaras have attended the auspicious events of their life. Visiting these places became a part of the religious affair. Therefore Loṅkā in his bola- 39 has argued that in aḍhī-dvīpa (2 and $^1/_2$ continents and oceans according to Jain cosmology) there is not a single place from where liberation has not taken place. Hence whole *aḍhī-dvīpa* is a *tīrtha.* Further, Loṅkā mentions that the popular places like Shatrunjaya, Girnar, Aṣṭāpada are not mentioned in the scriptures as the *tīrthas.* He also mentions that Mahāvīra has established the four-fold Jain community, that is, *sādhus, sādhvī, śrāvaka* and *śrāvikā,* as the *tīrthas* which confirms the definition of *tīrtha* and not the places. So where it is mentioned that any geographical place should be regarded as *tīrtha*? Further Loṅkā in his *bola* - 53 which he quotes from the *Jñātādharmakathāṅga* (5th Adhyāya) says that the real pilgrimage is to walk on the path of knowledge, faith, conduct, austerities and restraint.

He even argues that the word '*caitya*' dose not means image or a temple but it means knowledge. Therefore '*caityārthe*' means for the sake of spiritual knowledge and conduct, that is equal to '*jñānārtha*' and for the sake of shedding of the *karmas,* that is, '*nirjarārthe*'.

He points out that there is no unanimity among those who follow idol-worship on many points, 1) whether the image should be nude or with clothes, 2) whether the image should be consecrated by laity or by monks, 3) what should be the posture of the image, 4) at what time of the day should the image be worshipped , of what material should the image be made of- stone, metal, wax etc, 5) since all the 24 Tīrthaṅkaras are equal which of them should be consecrated in the center, 6)what should be the height of the image, 6) does the image possess the qualities of knowledge, conduct , faith , austerities

etc after its consecration. No effects of idols are mentioned. But effects of *arihanta, cakravartī, baladeva, caraṇa, vidhyādhara, sādhus, sādhavis, śrāvaka, śrāvikā, prakṛti-bhadrikā manuṣya* (simple hearted human beings), *gaṅgā, sindhudevis* are mentioned. Birth of Tīrthaṅkaras are celebrated by gods. They get mud from *tīrthas* and water from different rivers therefore it involves violence. It is the *laukika-vyavahāra* of the celestial beings, and not for *mokṣa.*

The idol worship and temple building is not a phenomenon specially limited to Jainism. We find similar movement in both Hinduism during the *Purāṇic* age and Buddhism during the Mahāyāna period. The ancient structure of Brahmanical religion had scope only for *yajñas*; with the *Purāṇic* age, there developed personal gods like Brahmā, Viśṇu, Śiva, Gaṇeśa etc. Not only idols were made, but also temples were built for them, which led to further growth of rituals with all grandeur. Jainism, which grew along with these two cultures, naturally adopted such a way of worship. Therefore from medieval period till Loṅkā's arrival on the scene idol worship was widely prevalent. Loṅkā's protest seems to have been based on the āgamic studies. The prevalence of the images has been observed right from the 1st century B.C. and it is recorded inscription in Udayagiri and Khandagiri caves near Bhubaneswar. According to the Jain tradition temple worship is as ancient as the religion itself. In other words it is eternal. Critiques of Loṅkā argue that there are *Śāśvata Pratimās* in the *devaloka*, therefore one can build images in Bharata region of *Jambū-dvīpa* and there is no harm in worshipping them. Loṅkā argues that such practices are the *laukika-kriyās* of the *devatās.*

Thus Loṅkā's points of criticism against idol-worship and temple building are:

1. These practices which have been newly introduced are not directly helpful in the spiritual path.
2. They go against the principle of non-violence as many of the practices involve injury to the *Pṛthvīkāya, Apakāya, Vanaspati-kāya* and other *jīvas.*

Bhakti: Śrīmad Rājacandra's teachings were full of devotion. It means that a person true to his teacher is fully devotional to him and devotion to teacher is devotion to God because only a pious teacher can impart the true teachings of Tīrthaṅkaras and the Scriptures. This devotion, which Śrīmad's teachings express, is the devotion to a living person. Dr J.C. Jain in his book, "*Studies in Early Jainism,* remarks, "The period from the 13th or 14th century to the 17th or 18th century A.D. is considered of great significance in Indian religious history. There were galaxies of medieval saints such as Dādū, Sūra, Tulasī, Mīrā, and Guru Nānaka in North India, Santa Jñāneśvara, Tukārāma, and Ekanātha in Maharashtra and Narsī Mehta, Akhai Bhagat and others in Gujarat. This movement had a great impact on religions of India. Now religion was not confined to *jñāna* (knowledge) but it reaffirmed *Bhakti,* emotional feeling, devotion, adoration, glorification and paying homage to God".[5]

"The *Bhakti* cult had a great impact on Jainism and Buddhism. Neither holds that God is the creator, preserver and annihilator of this universe. According to the Jains, God (or Gods, they are many and any one can achieve Godhood by practicing penance thereby annihilating one's *karmas*) is free from attachment and aversion. He is neither eternal and omnipresent, nor capable of doing or undoing things at his sweet will. Therefore, really speaking, devotion towards him cannot lead to the achievement of liberation. Vaṭṭakera (circa 2nd century A.D.) a Jain ācārya from south India has supported this view in his *Mūlācāra*[6]. He has stated that a saint who, out of his

devotion to God Jina, wishes freedom from birth and death, achievement of enlightenment (bodhi-lābha) and preservation of auspicious thoughts at the time of *Samādhi Maraṇa* (death while in meditation), does not do it as a reward to his penancial act, but this devotional language should be considered as a false speech (asatya-mṛṣā). Almost the same idea is conveyed by Samantabhadra, another renowned Digambara Jain author of the 5th century AD in his *Āptamīmāṁsā*.

"There is no place of *Bhakti* or *Pūja* in Jain religion, yet the impact of *Bhakti* cult was so great that it could not remain without adoration, chanting hymns, paying homage, counting rosary and making salutations to the Tīrthaṅkaras and other great personalities .In Jainism the *Arhanta*, the *Siddha*, the *sādhus*, and the *Dharma* preached by an omniscient being are considered as the four *Maṅgalas* (auspicious) and the four *lokottamas* (best in the world). Then, *caturviṁśati-stavana* (eulogy to 24 tīrthaṅkaras) and *vandana* (salutation to God *Jina-Arhanta* and *Siddha*- and to those who excel in austerities, scriptures and virtues) are considered among six obligatory duties (ṣaḍāvaśyaka). The *Bhagavati-Ārādhanā* of Śivārya and the *Vijayodayā* commentary of Aparājitasūri on it have also dealt with these duties. Then the ten types of *Bhakti* are mentioned in the *Dasabhatti* (Prabhācandra has written a commentary on this work written by Kundakunda). They are: *Bhakti* toTīrthaṅkara, to *Siddha*, to *Śruta* (scripture), to *cāritra* (conduct), to *yogin* or *anagāra* (monk), to *ācārya* (spiritual teacher), to *nirvāṇa* (emancipation), to *Pañcaguru* (five teachers), to *Nandīśvara* continent, and to *Śānti* (peace). Kundakunda's *Pañcāstikāyas* mentioned *Bhakti* towards *Arhanta, Siddha, caitya* and *pravacana* (teaching) and his *Pravacanasāra*[7] has referred to *Pūjā* of *devatā* (god Jina), *yati* (monk) and *guru* (teacher)."[8]

Really speaking the period from the 9th century to the 12th century was very important from the point of view of various changes that were taking place in the course of conduct of a layman. It was a time when rituals were getting into prominence in place of the basic principles of religion. People were looking for various forms and manners of performing divine services, as a result the code of ceremony and performances of rites were gaining popularity. As the quotation describes, *bhakti* in traditional Jainism means divine service (mainly in the form of rituals) which is totally different from what Śrīmad Rājacandra meant by surrender.

The present times are very hard and very unfavorable for the practice of spirituality and *sadguru* or *satpuruṣa* are very rare to be found. Śrīmad, therefore said at many places in his writings that if no such *sadguru* is available, one should worship such things and place and study such scriptures as would increase the sentiments (bhāva) of passionlessness (vairāgya), and subsidence of *Kaṣāyas* (attachment, aversion etc.).

"The word *Bhakti* comes from the root *bhaj-* which means: divide, distribute, enjoy and also participate and thence adore, honor, venerate. *Bhakti* implies the existence of a being worthy of adoration and veneration and includes a certain element of participation in the divinity sanctity of this being. Jain *bhakti* has its own special features in that its praise, devotion and wonder - whatever their outward expressions are directed to the spiritual achievement of beings eminently worthy of veneration, that is, of the victorious one, the Tīrthaṅkaras and other *parameṣṭhins*, with the ultimate aim of imitating them following them and thus becoming fully purified or liberated.

The aspect of sharing found here does not include direct, ontological

participation in the beatitude of the one venerated within a relationship of reciprocal love; rather this participation consists in an unwavering belief in the authenticity of life of these heroes and in concentration on their virtue and perfection along with a desire to endeavor to imitate them, in such a way that one is already in a certain way sharing in their sanctity, for this concentration and sustained effort of imitation themselves contain an immense purificatory power, which is not due to any direct intervention on the part of the Tīrthaṅkaras but to the very powerful inspiration aroused by them which uplifts, as it were, and transforms the one who venerates.

This profound devotion is addressed to the *parameṣṭhins* of both past and present, that is to say, to the multitude of liberated beings who have attained *nirvāṇa*, to the ascetics of past and more concretely, to contemporary ascetics. It is not only the *parameṣṭhins* who are venerated, but also the *dharma*. The three *sūtras* called the *māṅgalikas* (auspicious) which belong to the rite of *āvaśyakas* (duties), are addressed to the *dharma* taught by the *kevalins* as being happiness, excellence, the supreme refuge in the same way as on other occasion is made to the *arhats, siddhas* and ascetics."[9]

References:

1. Sahoo, A . C, *Jain Religion and Art*, p. 83.
2. Chanchreek, K.L and Mahesh Jain, *Jaina Economic Life*, p. 137.
3. Jain, K. C. *Op.Cit.*, p. 333.
4. Chanchreek, K. L. and Mahesh Jain, *Op. cit.*, p.131-132.
5. Jain, J. C. , *Studies In Early Jainism*, p. 173
6. Vaṭṭakera, *Mūlācāra* , 7.69-70
7. *Pravacanasāra,* Kundakunda, 1.69
8. Jain, J. C., *Studies In Early Jainism*, p. 173
9. Shanta, N. *The Unknown Pilgrim*, Shri Satguru Publication, Delhi p.79

Bibliography:

1. Cort John, "*Singing the glory of Asceticism: devotion of Asceticism in Jainism*", in *Journal of the American Academy of Religion,* December, 2002, Vol.70.
2. Chanchreek K. L and Jain Mahesh , *Jain Economic Life*
3. Jaini, Padmanabh S., *The Jaina Path of Purification,* University of California, Berkeley, 1979
4. Kulkarni V.M, *Studies in Jain literature*, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 2001
5. Pungaliya, U.K., *Philosophy and Spirituality of Śrīmad Rājacandra,* Prakrit Bharati Academy, Jaipur - 1996.
6. Shah. U. P., *Studies in Jain Art*, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1955
7. Shanta, N., *The unknown Pilgrim*, Sri Satguru Publications, Delhi 1997.
8. Sogani K.C. "*Jaina Mysticism and Other Essays*" Prakrit Bharti Academy, Jaipur - 2002
9. Upadhye A.N., *Pravacanasāra* of Kundakunda, Paramshruta Prabhavak Mandal, Bombay, 1935
10. Williams R, *Jaina Yoga*, Motilal Banarsidass, New Delhi, 1997

****

JAIN PHILOSOPHY OF REALITY: A CRICTICAL STUDY

Dr. Samani Shashi Prajna

The Jain system of thought is acredited to have develop the theory of Reality in its own manner from the noumenal and phenomenal aspects. It is unique in its character of synthesizing divergent views inherent in different systems of thought. In this article the learned author has given a critiacl account of the Jain Theory of Reality by explaining its problems and nature in the light of the original texts dealing with the theory. - **The Editor**

Mahāvīra propounded that our conduct and behaviour are conditioned by our metaphysical speculation. The incentive to social change emerges from a deep and sound metaphysical theory, which requires proper application of logic to experience. Samantabhadra (6th cent. A.D.) an ardent follower of Mahāvīra argues that the conceptions of bondage and liberation, *puṇya* and *pāpa* (merits and demerits), heaven and hell, pleasure and pain and the like lose all their relevance and significance, if we exclusively recognize either permanence or momentariness as constituting the nature of substance.[1] The affirmation that the momentary disintegration of all things renders impossible the financial transactions, the fact of memory, and the common-place relations of the husband and the wife, the teacher and the taught and the like also indicates the subservience of ethical problems to the nature of being.

Mahāvīra differs from all absolutists in their approach to unfold the inner nature of reality. He weaves the fabric and structure of reality on the authority of indubitable experience and is not swayed in the least by the fascinations of a priori logic.[2] Mahāvīra evaluates what

is given in experience, and consequently advocates change to be as much ontologically real as permanence. Both are separable but only in logical thought. Being implies becoming and vice versa. Inconsistent as it may appear at the inception, there is no doubt that experience enforces it and logic confirms it. Mahāvīra adhered to the common experience and found no contradiction between permanence and change and advocated doctrine free from all absolutism.

Jain Concept of Reality

Jain philosophy has an important place in the domain of Indian philosophies. The concept of reality occupies a foremost place in Jain metaphysics. It is reality which acts as a foundational stone in explaining the basic concepts of Jain ethics- Jain theory of *karma,* Jain epistemology and Jain theory of *anekānta.* The essence of threefold nature of reality, i.e., *utpāda, vyaya* and *dhrauvya* will be dealt within brief and its contribution to the world of philosophy and the world of affairs. In my view, the concept of reality is very peculiar and unique in Jain philosophy. Now, let us see what actually Jain reality is.

Definition of Sat

In Jain philosophy, the doctrine of (sat) Reality is different from the rest of the other systems of philosophies. The definition of Reality as given by Umāsvāti (3rd cent. A.D.) is

utpāda-vyaya-dhrauvya-yuktaṁ- sat.[3]

Existence is characterized by origination, destruction and permanence. This conception of reality is peculiar to Jainism. An existing reality in order to maintain its permanent and continued existence must necessarily undergo change in the form of origination and destruction. It seems to us a paradox at the beginning. But a closer analysis and minute observation will help us to appreciate the significance of this

description of reality. Without being clear about the definition of *utpāda, vyaya* etc. the definition of reality is incomplete.

Definition of Utpāda

Umāsvāti did not define the definition of *utpāda, vyaya* etc. so let me quote the definition of *utpāda.*

svajātyaparityāgena bhāvāntarāvāptirutpāda.[4]

Ācārya Akalaṅka (8th cent. A.D.), the commentator of *Tattvārtha-Rājavārtika* who explains *utpāda* as the modification of a substance without giving up its own nature.

With a slight difference Ācārya Pūjyapāda Devanandī (9th cent. A.D.) defines *utpāda* or origination as :

cetanasyācetanasya vā dravyasya svāṁ jātimajahat ubhaya nimittavaśād / bhāvāntarāvāptirutpādanamutpādaḥ mṛtpiṇḍasya ghaṭa paryāyavat//[5]

The attainment of other modes by souls or other substances by means of external and internal causes, without giving up their essential characteristics is reality. For instance, the production of a pitcher from clay.

The Definition of Vyaya

As per Akalaṅka, *vyaya* is the disappearance of its form.[6] Ācārya Pūjyapāda defines *vyaya* as :

Ťathā pūrvabhāvābhigamana vyayaḥ yathā ghaṭotpattau piṇḍakṛteḥ.[7]

"The loss of the former mode is destruction. For instance the loss of the lump shape of clay in the production of the pitcher."

The Definition of Dhrauvya

Ācārya Pūjyapāda defines *dhrauvya*, as there is neither annihilation nor origination of the inherent nature, it is permanent of quality. That is, it is permanent. For instance, clay continues to exist in the lump, the pitcher and in its broken parts. So, reality retains its

lump, the pitcher and in its broken parts. So, reality retains its essential nature in the midst of series of changes, which take place in it.

Anādipariṇāmikasvabhāvena vyayodayābhāgād dhruvati sthirībhāvatīti dhruvaḥ dhruvasya bhāvaḥ karma vā dhruvyaṁ. Yathā mṛtpiṇḍa-ghaṭādyavasthādavasthāsu mṛdāndyanvāyaḥ.

Thus existence is accompanied by origination, disappearance and permanence. The three-fold nature of reality is so inter-related that we can't distinguish them from one another.

Inter-relation of Utpāda-vyaya-dhrauvya

The nature of reality is characterized by origination, cessation and permanence. Ācārya Kundakunda (2nd cent. A.D.) deals with this concept of *tripadī* (*utpāda-vyaya-dhrauvya*) by dividing it into two parts as : (i) *utpāda* and *vyaya* in relation to *paryāya* (mode) and (ii) *dhrauvya* to *dravya* (substance).[8] Here Ācārya Kundakunda is highlighting the identity and difference of *dravya* and *paryāya* by explaining it on the basis of the āgamic view. There cannot be a substance without modes nor modes without a substance; they have a non-different state of relation.[9]

Here one objection can be raised as, in one and the same reality, there can't exist at a time two elements-permanence and impermanence, like cold and hot because of being opposite to each other, for this reason, here there is a need to explain the nature of the principle of permanence of Jain philosophy in order to avoid the self-contradictory statement. Umāsvāti defined permanence as indestructibility of the essential nature of reality.[10] Ācārya Pūjyapāda opines that the permanence of a substance should be taken from one point of view. If it is permanent from all points of view, then there can be no change at all. And in that case transmigration as well as way to salvation would become meaningless. So Tīrthaṅkara

nature of the reality from different viewpoints. In the *Bhagavatī Sūtra*, it is explained that the non-permanent part (asthira) of a reality changes, but the permanent (sthira) does not change.[11] Moreover, Tīrthaṅkara Mahāvīra elaborated this idea and said, "Souls may be eternal in a respect and may be non-eternal in other one. They are eternal from the substantial point of view and non-eternal from the modal point of view.[12] If we accept identity-in-difference in a reality from two different standpoints then no error can be traced by any other schools of philosophy.

Varieties of Examples Highlighting Inter-relation of Trinity

Ācārya Kundakunda quotes the example of seed, sprout and treeness. Jain *ācāryas* have cited different types of novel and living examples for showing the inter-relation of *utpāda-vyaya-dhrauvya* nature of *sat*. The very common example of ancient time, i.e., pitcher, clay, and mud which is already mentioned is used by Kundakunda in *Pravacanasāra*, by Akalaṅka in *Tattvārtharājavārtika* and Devanandī in *Sarvārthasiddhi*. Kundakunda in his text cites an example : *paryāyastūpādavyayadhrauvyairālambyante utpāda vyaya dhravyāṇāme yeṣadharmatvāt bīejāṅkura pādapvat. yathā kilāṇśnaḥ pādapasya bījāṅkurapādapatvālakṣaṇāstrayoṇśā bhaṅgotpādadhrauvya lakṣṇairātmadhārmairālamitaḥ samameva pratibhanti.*[13]

Let us look at the seed of a plant. When the seed is planted in the soil it must necessarily break the shell and sprout out. This is the first step in its attempt to grow. Then the sprouting seed further undergoes change and some portion of it comes out seeking the sunlight and the other goes down into the soil, will undergo enormous changes into the root system. Similarly, the portion that shoots up into the air and sunlight will also undergo enormous changes of sprouting out in tendrils and leaves, finally resulting in branches and stem of the plant all engaged in the task of producing

nourishment with the help of sunlight. At every stage thus we find change, the old leaves being shed off and the new sprouts coming in. This seems to be the general law of nature. The life of the seed does never die; it lives even though it is being constantly changed, and this is what reality is.

In *Pravacanasāra* Kundakunda quotes another example :

Yathāhi jātyajāmbūnadasyāṅgadaparyāyeṇotpattirdṛṣṭa,
Pūrvavyavasthitāṅgulīyakādi paryāyana ca vinaśaḥ
Pītatādiparyayeṇū bhayatráātyutpatti vināśavanāsādayataḥ
druvatvaṁ.[14]

It means gold is substance; ornaments like ear-rings etc., made of gold are *paryāyas* (modes) of it. "These may change", one ornament may be melted and a new one be made. The disappearance of the previous bangle ornament is *vyaya* and the appearance of the new ornament is *utpāda*, and yet all the while there is the same gold-*dhrauvya* (permanent). So, in a substance some modification originates and some other passes away, but the substantiality neither originates nor is destroyed.

Yathaivchītyadhimāna pāṇḍubhāvena vyayamānaṁ
haritbhāvenāvatiṣṭhamānaṁ/
Sahakārphalatvenotpāda
vyayadhrauvyaṇyekavastuparyāyadvārena
sahakāraphalaṁ..r[15] .

It means, a mango in its unripened state is green in color. But, as the process of ripening continues it becomes yellow in color. This shows the destruction of green color and origination of yellow in the same (fruit called) mango, which also shows its permanency. Lord Mahāvīra never admitted the absolute nature of reality as permanent or impermanent only but cited an example of *bāla* from *vyavahāra* point of view a child and from spiritual point of view

unrestrained being. He says :

Sāsaye bālaye, baliyattaṁ asāsayaṁ/
Sāsaye paṇḍiye, paṇḍiyattaṁ asāsayaṁ//[16]

A man is *Paṇḍita* from *vyavahāra* point of view, knower of scriptures and from spiritual point of view restrained being i.e. when the modes of *bāla* originated, the modes of *Paṇḍita* are destroyed. But soul remains permanent in both the modes.

Umāsvāti explains the inter-relation of trinity through the verse as:

Siddhatvenotpādo vyayosya sansārbhāvato jñeyayḥ/
Jīvatvena dhrauvyaṁ tritayayutaṁ sarvamevaṁ tu//[17]

The mundane soul when attains the state of siddhahood, in this process there is origination of siddhahood mode and destruction of mundanehood but something permanent in both the stages is soulhood. Thus, Trinity is proved.

Umāsvāti in his *Bhāṣya* cites an example of trinity. As elevation and depression of a balance occurs simultaneously, while one end of the beam of the balance rises, the other end falls at the same time; if one end falls, the other rises at the same moment; similarly, without cessation in the prior order, the posterior order cannot come into being. Therefore, both must be accepted to occur simultaneously.[18]

Umāsvāti in his *Tattvārthādhigama-sūtra* cites an example of a man in anger and forgiveness supervenes, his angry soul is replaced by a forgiving one, i.e., the forgiving condition comes into existence at the same time an anger goes out of existence; and all through the soul continues the same. In *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*, Jinabhadragaṇi (5th cent. A.D.) explains *utpāda, vyaya* and *dhrauvya* as :

Nāṇassāvaraṇassa ya samyaṁ tamhā pagāsa-tamaso vā/
Uppāya-vyaya-dhammā, taha neya savvabhavāṇaṁ//[19]

The destruction of darkness, precedes origination of light, but the atoms of both, darkness and light are permanent in both the stages.

Likewise the destruction of knowledge obscuring *karma* and origination of omniscience is simultaneous, still the soulhood is permanent.

In the same way even Jinadāsagaṇi (6th cent. A.D.) in his *Daśavaikālika Cūrṇi* cites two examples of soul and matter. The birth in the human realm is caused due to the death from the heavenly realm, still soulhood is eternal. Likewise the destruction of an atom and origination of *dvipradeśī skandha* and aggregate, in both the cases, the matterhood remained as permanent.[20]

Siddhasena Divākara (6th cent. A.D.) in his '*Sanmati Tarka*' text gave a very living example of trinity. He says,

Jo āuṇacaṇakālo so ceva pasāriyassa vi ṇa jutto.
teiṁ puṇa paḍivattī-vgame kālāntaraṁ ṇatthi//
Uppajjamāṇakālaṁ uppaṇāṁ ti vigayaṁ vigacchataṇtaṁ/
daviyaṁ paṇṇavayaṁto tikālavisayaṁ visesei//[21]

Finger is a thing when bent cannot remain erect and vice-versa. Straightness and crookedness of a thing take place successively. The origination of 'Straightness' (saralatā paryāya) means the destruction of crookendness (vakratā paryāya). They both are the results of one and the same action taking place at one and the same time. And at the same time 'finger' is permanent (sthiti) as a finger. This establishes the fact that trinity is *samakālīna*, that is to say, it occurs at one and the same time.

Now, contrary to that if we take only one *paryāya*, namely, crookedness (vakratā) or straightness (saralatā) we are able to accomodate a different time limit for each of the three *utpāda, sthiti, nāśa*. When the finger ceases to be crooked and becomes straight, from that very moment *saralatā-paryāya* begins. *Vakratā paryāya* begins when the finger loses straight condition and assumes crookedness. And *sthiti -sāmānya* remains in force from the moment

crookedness. And *sthiti -sāmānya* remains in force from the moment it becomes straight upto the moment it loses straightness. Thus we are able to allot different moments for each of them.

Utpāda, sthiti and *nāśa* (all these three) *bhinnakālīna* (occurring at definite intervals) or *ekakālīna* (occurring simultaneously),as we saw above, are themselves different from or one with the *dravya* of which they are the *dharmas* (properties). They are different because they are its constituents and they are not different also because they don't claim a separate existence begins all included in the *dravya.*

Malliṣeṇa (10th cent. A.D.) says, we can experience the origination and cessation through an example of conch. When a white conch is perceived through defected eye as yellow and after the defect is removed, again we get knowledge of white conch and yellow conch knowledge disappears. In white conch origination of yellow colour and cessation of the same two, again origination of white colour knowledge of conch is prevailing in both the states of modes.[22]

In our day-to-day affairs, we experience (see) change in the form of origination and cessation in a substance and its permanent nature at one and the same time. Samantabhadra cites an example :

Ghaṭamaulīsuvarṇārthī nāśotpādasthitiṣvayaṁ/
Śokapramodamādhyasthyaṁ jano yāti sahetukaṁ//[23]

Different psychological reactions are perceived in different individual persons at one and the same time on the breaking up of a gold *kalaśa* (pot) and the making of a crown out of the same stuff; the man desiring the *kalaśa* is sorry over its destruction, the other man desiring the crown is happy on its making, the third person desiring only gold appears to be neutral. Thus, origination, cessation and persistence are identical in this respect that they are in one and the same substance, but they are also different in the sense that they

give rise to different cognition, so it is clear that the object is characterized by the three aspects origination, cessation and persistence. Kumārila Bhaṭṭa also has dealt with the problem of the three aspects of an entity by giving the same example.

Samantabhadra tries to prove the triple nature of a reality through an example of milk. He says :

Payovrato na dadhyatti na payotti dadhivrataḥ/
Agorasavrato nobhe tasmāt tattvaṁ trayātmakaṁ//[24]

It means one vowed to milk does (not) eat curds; one vowed to curds does not eat milk; one vowed to abstinence form cow products avoids both. Therefore, the entity is triple.

Another example is given by Malliṣeṇa in his *Syādvāda-mañjarī* that nails and hair although we cut still they grow every now and then, the nails are changing every moment. The origination of new nail and disappearance of the old nails occurs, still Malliṣeṇa accepts it as the same nail. This sort of *pratyabhijñā* (recognition) can occur only in the triple nature of Reality.[25]

Likewise, we experience in our day-to-day like the various modes of human emotions, namely, pleasure, anger and sadness etc. So, these modes are seen logically undeniable and unobjectionable experienced in the same human being. Thus the three-fold nature of reality is proved.[26]

Na ca jīvādau vastuni harṣāmarṣodasīnyadi,
Paryāya paramparānubhavaḥ rasaladarūpaḥ,
Kasyacid bādhakasyābhāvāt.

This theory of the Jains of identity and change has been compared to the chemical change. In 1789, Laworier, an eminent scientist, propounded the theory of conservation of matter. According to this

theory, matter is constant. Its modifications are only expressions. The modifications do not destroy matter, nor do they add to the quantity of matter. Just as the coal when burnt becomes ash, the matter is not altogether destroyed. It is only converted into ash. The Jains have affirmed the same point when they say that in the modifications of *dravya* the quantum of *dravya* does not change, it is eternal. It expresses itself in different forms. Therefore, *dravya* is constant in all its modifications.[27] The very same example is quoted by Pūjyapāda in his *Sarvāthasiddhi* text.[28] Thus, we see, the three-fold nature of reality meet together simultaneously in a single period of time. All the examples quoted above are very much related to our day-to-day life.

Transgressions in acceptance of Absolute Origination of Reality

Kundakunda says, those who assert mere origination, two-fold transgressions will occur in that case. Firstly, no origination of any sort of effect will take place and secondly there will be chance of origination of unreal. In brief, if only origination is accepted and no destruction, then there will be lack of cause of origination or the destruction of clay. As pot cannot originate as an effect likewise all the objects of the world also will cease to originate. This is first transgression. Secondly the possibility of origination of a reality will take place, which is impossible.[29]

The Transgressions occurring due to Absolute Destruction of Reality

Kundakunda says that those who assert mere Reality's destruction, two fold transgressions may occur in that case. Firstly, there will be a lack of destruction at all because the pot originates due to destruction of clay, i.e., if we accept absolute destruction only, then lack of destruction will prove because destruction cannot take place bereft of origination. Secondly, when the reality will cease, due to this

destruction of reality, the knowledge, intuition etc. also will cease, in that case there will not be any retention at all.[30]

The Transgressions occurring due to Absolute Permanent Nature of Reality ·

Kundakunda says, those who assert destruction of absolute permanence or *dhrauvya* nature of reality, two types of transgressions may occur. Firstly, modes will cease. If modes are destroyed, then reality bereft of modes cannot exist at all. So the occasion of destruction of reality may occur. Secondly the permanent nature of reality converts as impermanent if we accept the destruction of *dhrauvya* nature of reality.[31]

Devanandī (9th cent.) explains the same view with a slight difference.

Tatra paryāyārthikanayāpekṣayā parasparato,
dravyāccārthāntarabhāvaḥ,
Dravyārthika nayāpekṣayā
vyatirekṇānupalabdheranarthāntarabhāvaḥ.[32]

It means from the point of view of modes, these three characteristics (origination) etc. are mutually different from one another and are also different from the substance. From the point of view of substance these three are not perceived separately from the substance. Mere origination does not exist; because that is without stability and departure; like the hair of a tortoise. Likewise, mere destruction does not exist, because it is without stability and origination, like the same. Likewise mere stability does not exist, because it is void of destruction and origination like just the same. So, an existence in the entity of mutually respective origination, etc., must be conceded.[33]

If it is said that origination, etc. are mutually distinct or not. If origination, etc., are different, how is there one thing triple or if origination, etc., are not different, how is there one thing triple?[34]

Permanent Nature of Reality

As per Umāsvāti's *Sabhāṣya Tattvārthādhigama Sūtra*, if we accept absolute permanent nature of a reality like Vedānta philosophy, then soul will remain static in its own one inherent nature. No difference in his states will occur. In the absence of change in the states of soul, the difference of *saṁsāra* and *mokṣa* will never occur. If we consider this difference of *saṁsāra* and *mokṣa* as mere imaginary then we have to accept the soul bereft of any sort of inherent nature of its own. Because *saṁsāra* and *mokṣa* are also the nature of soul. When we consider the soul's nature *saṁsāra* and *mokṣa* and its changing state as imaginary then we are compelled to agree to the natureless and imaginary existence of the soul also. If we deny any nature of soul, in the absence of its nature, we are bothered to accept non-existence of the soul itself.

As quoted in the *Sanmati Tarka* of Siddhasena Divākara (6th cent. A.D.), from the point of view of those who hold that an entity is unchangeable, happiness and misery cannot stand. Moreover, Siddhasena continued to raise problems in the next stanzas that :

Utpādādiyute khalu vastunyetadupapadyate sarvaṁ/
Tadrahite tadabhāvāt sarvamapi na yujyatenityāl[35]

'Action current' (yoga) attaches or binds a man through mind, speech and body. And it is through our passions (kaṣāyas) that this action-current binding of a man takes its firm stand. But if we think that a thing is eternally unchangeable or when we think the thing is born and in a moment decays, we can never account for the binding of an action or its continuance. If there is not binding by action current, then it will be a folly to desire the happiness of liberation. In fact, then there cannot be any such thing as liberation at all.

Siddhasena Divākara also quoted the very same idea against

ekāntavāda in *Sanmati Tarka*:

Sukha-dukkhasaṁpaogo ṇa jujjaye ṇiccavāya pakkhammi/
Eghaṁtuccheyammi ya suha-dukkuhaviyappaṇamajuttaṁ//
Kammaṁ joganimittaṁ bajjhai baṁdha-ṭṭhie kasāyavasā/
Apariṇaucchinnesu ya baṁdha-ṭṭhikraṇam ṇatthi//
Baṁdhammi apūrante saṁsārabhavoghadaṁsaṇaṁ mojjhaṁ/
Baṁdhaṁ va viṇā mokkhasuhapatthaṇā ṇatthi mokkho ya//[36]

It means that the person who accepts absolute eternal nature of a reality, there will be no possibility of virtuous or sinful acts. Then how can there be rebirth as fruits (of the same), O Lord! Whom you do not guide cannot establish bondage or liberation.

Puṇyapāpakriyā na syāt pretyabhāvaḥ phalaṁ kutaḥ/
Bandhamokṣau ca teṣāṁ na yeṣāṁ tvaṁ nāsi nāyakaḥ//[37]

Devanandī says, the *dhrauvya* nature or *nitya* is that which is the cause of recognition. The remembrance that 'this is the same thing I saw yesterday' is recognition. That does not occur accidentally. That which is the cause of such a statement is its intrinsic nature (tadbhāva). *Tadbhāva* is its existence, condition or mode. A thing is seen as having the same nature with which it was seen formerly. So it is recognized in the form, 'This is the same as that'. If it be considered that the old thing has completely disappeared and that an entirely new thing came into existence, then there can be no remembrance. And worldly relations based on it would be disturbed. Therefore, the indestructibility of the essential nature of a substance is determined as permanence. But it should be taken from one point of view. If it be permanent from all points of view, then there can be no change at all. And, in that case, transmigration as well as the way to salvation, would become meaningless. Transmigration of the soul as a man, a hell-being and so on the liberation, the end of transmigration, is discussed by Ārya Samantabhadra as transgressions occurring due to the acceptance of absolute momentary nature of *Sat*. He says,

Kṣṇikaikāntapakṣepī pretyabhāvādyasambhavaḥ/
Pratyabhijñādyabhāvanna kāryārambhaḥ kutaḥ phalaṁ//[39]

In the view of those who accept *kṣaṇikaikānta* (absolute momentaryness), existence after death etc. is impossible. As there will be no *pratyabhijñā* ('This is that only' this kind of recognition or memory etc.), is impossible. There cannot be any beginning of any effect leading to any fruit. It means, if a man does not remember his previous experience, how can he act to satisfy his desire by doing necessary acts. One collects firewood, cooking pot, rice and water, wishing to cook food without *pratyabhijñā* (memory); this action (kāryārambha) can never take place, and the fruits of the act (phala) can consequently never happen. Another argument is preferred against the Buddhists in this verse.

Na hetuphala bhāvadiranyabhāvādananvayāt/
Santānnāntaravannaikaḥ santanastadvataḥ pṛthak.[40]

In this verse, Samantabhadra refutes the view of the Buddhist *kṣanikavāda* recognizing different moments and unconnected with one another but taking rise one after the another is untenable. Being different and unconnected, relationship of cause and effect cannot exist, as one cannot be like another *santāna.*

Hemacandra (1088-1172) also raised many objections. He says :

Naikāntavāde sukhaduḥkhabhogau na punyapāpe na ca bandha-mokṣau/
Durnitivāda-vyasanākṣiṇaiva, parairviluptaṁ jagadapyaśeṣaṁ//[41]

It means, if we accept the nature of *Sat* as absolute, eternal or absolute non-eternal, then we can't explain the experiences of pleasure and pain, merit and sin, bondage and liberation. The triple nature of *Sat* can explain obviously above mentioned question or problems in a right perspective.

The Transgressions in accepting Absolute Momentary Nature of Reality

Hemacandra in his work *Anyayogavachedikā*, describes that if we accept absolute momentary nature of *Sat*, then it will lead to the fault of loss of deeds, the fault of enjoyment of deeds not done, the fault of ruin of becoming, the fault of ruin of liberation, the fault of ruin of memory. These faults obviously occur as established by experience.

kṛtapraṇāśākṛtakarmabhogaḥ bhavapramokṣa-smṛtibhaṅga-doṣāṁ/
upekṣya sākṣāt kṣaṇa bhaṅga-micchan-naho! mahāsāhasikaḥ paraste.[42]

The explicit order of the universe is fundamentally dependent upon the theory of change. If there would be no possibility or potency of change, then cause-effect relationship among the objects can never occur. All the schools of thought unanimously accept the essence of cause and effect in the universe. Most of the scientific researches and experiments are based on the cause-effect principle. The Vedāntins who do not believe in the reality of modification or change have no answer to the question of how the universe originates out of absolute static reality. To answer this, they have accepted the concept of *māyā* with the help of which change takes place. In brief, to deny the concept of change is tantamount to the denial of the existence of the entire world of being.[43]

The denial of change will lead us to the unending question and problems regarding the concept of *karma* theory, concept of *puruṣārthavāda*, the concept of inflow of *karma* (āśrava) and shedding of *karma* will never occur. If everything in the world of affairs would be static bereft of any sort of change, then, every object, which is present will remain as it is, if we deny change. Then cloths, thing will remain new forever, which is

contradictory to our experience.

If we accept soul as permanent by its nature and any change in their nature accepted, then there will be no fluctuations in the human emotions, no feeling of joy or sorrow, no transmigration of soul from one realm to another can occur, no rebirth or pre-birth can take place, human efforts will not work at all, then entire human race will never try to attain emancipation, entire world religious beliefs and practices, God worship will prove to be of useless effort.

Criterion of Reality

After determination of the nature of reality, the question arises what is the criterion of reality in Jain philosophy? In Indian system of thought, the following four doctrines are found to determine the criterion of reality, viz. (i) the doctrine of absolute permanence (kevalanityatā or kūṭasthanityatā), (ii) the doctrine of absolute impermanence (kevala-anityatā), (iii) the doctrine of absolute permanence and absolute change (nityānityatā) and (iv) the doctrine of permanence-in-change (pariṇāmīnityatā).

As the advocate of the doctrine of permanence-in-change, Jain philosophy also speaks against the doctrine of absolute permanence and that of absolute impermanence and takes up the middle path of *pariṇāmīnityatā* (permanence-in-change) in the following manner. It was quite natural that in the beginning of the rise of philosophy every school should speak in support of its own doctrine and against the invalidity of those of others, "in the name of these very doctrines of *karma*, etc." But in the age of Logic the Indian scholars advanced the argument that the entity which is capable of performing a function (arthakriyākārin) can be only *Sat*-real but nothing else. The credit of advancing this logical criterion of *arthakriyākāritva* (causal efficiency) goes to the Buddhist tradition. The word '*arthakriyā*' occurs in the early Buddhist work *Lalitavistarā* in the sense of being

useful to others without any metaphysical significance.

What is Arthakriyā ?

Dr. S.N. Dasgupta explaining the meaning of *arthakriyākāritva* says, 'It is the power of performing actions and purposes of some kind',[44] Hemacandra defines the *arthakriyākāritva* as the criterion of existence or being in the performance of certain specific action, or rather, existence, means that a certain effect has been produced in some way (causal efficiency) is then called Reality.

Arthakriyā sāmarthyāt, tallakṣaṇatvād vastunaḥ.[45]

According to Jain metaphysics, substance and its modes are not absolutely different like substance and its qualities of the Nyāya-Vaiśeṣika Philosophy and they are also not absolutely identical, one merging into the other and thus giving rise to absolute eternalism of the *Vedānta* or absolute momentarism of the Buddhist system of thought. There exists a relation of identity-cum-difference between them.[46] One mode cannot be different from another because of the continuity of the same substance through them. This makes the psychical phenomena of recognition and memory possible to occur.[47]

Ācārya Hemacandra advanced the argument that a real entity as conceived by the Jains is alone capable of performing a function. This criterion of Reality can be applied only to the concept of substance (dravya) of Jain Philosophy in its defense. According to Ācārya Hemacandra, *arthakriyākāritva* (causal efficiency) is the criterion of an entity. If an entity is as absolutely permanent or absolutely non-permanent, then this characteristic does not really occur because according to the Vaiśeṣika view, that whose destruction never takes place, which is not produced and which always remains in the same form, is permanent. Now, if there is any permanent entity, there must be causal efficiency in it. This casual efficiency

takes place in this permanent entity in succession or all at once, i.e., simultaneously. There cannot occur causal efficiency in a permanent entity, because it is capable. For this reason it cannot perform a function, which is going to take place in the second moment, and which is capable does not make delay in performing a function, otherwise it cannot be called capable. If someone doubts that even being capable, an entity performs a function only on the association of its subsidiaries, then the incapability of a permanent entity is proved by this fact, because it is dependent on the assistance of others. The principle of the Nyāya is this, "that which depends on others is incapable".[48]

A permanent entity does not perform a function even simultaneously, for it is not found in experience that an entity performs at a time a function which is going to be performed in the entire time, or if a permanent entity performs it even simultaneously, then what will it do at the second moment? If it is said that it performs a function at the second moment also, then the defect, which comes in the case of performance of a function in succession will also come in this case. If it is argued that a permanent entity does not do anything at the second moment, then because of the absence of causal efficiency, a permanent entity will appear as a non-entity. Thus, there does not take place causal efficiency (arthakriyākāritva) in an absolutely permanent entity in succession and simultaneously (kramākrama). On the destruction of causal efficiency in an entity, the existence of it does not remain.[49] Like an absolutely permanent entity, it is not rational to regard an entity absolutely momentary, because a momentary entity is destructible at every moment. For this reason it cannot perform a function either successively or simultaneously.

Therefore, it is concluded by Ācārya Hemacandra that *arthakriyākāritva* (causal efficiency) as the criterion of Reality is

only possible in the case of Reality, which is permanent-in-change as conceived in Jain Philosophy. In other words this criterion is only applicable to the concept of *dravya* (substance) of Jain metaphysics.[50] The real according to the Jain philosopher, is a variable constant. It is being and non-being (becoming included) unity and plurality (one and many) eternal and non-eternal, universal and the particular rolled into one as defined by Amṛtacandra in his *Ātmakhyāti* commentry on *Samayasāra.* If causal efficiency is the test of reality, the real cannot be an absolute constant, nor can it be an absolute variable. It must be variable constant. So Tīrthaṅkara Mahāvīra established the permanence-cum change nature of reality.

References:

1. *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra. Ed. Saratchandra Ghoshal with introduction, translation, notes and original commentary in English. Delhi : Bharatiya Jnanpith 2002, verse 3.40.
2. K.C. Sogani. *Ethical Doctrines in Jainism*, p. 14.
3. *Tattvārthasūtra* of Umāsvāti, English trans. Nathmal Tatia under the title '*That which is*' with the combined commentaries of Umāsvāti, Pujyapāda and Siddasena Gaṇi. America : Collins Publications. 1994, 5.30.
4. *Tatvārtharājavārtika* of Aklaṅka, Ed. Mahendra Kumar. Delhi : Bharatiya Jnanapith Prakashan. p. 495.
5. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, Ed. Phool Chandra Shastri, Delhi : Bharatiya Jnanapith Prakashan. p. 495. 13th edn. 2005, p. 229.
6. *Tattvārtharājavārtika* of Akalaṅka, op. cit., p. 495.
7. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, op. cit., p. 229.
8. *Pravacanasāra* of Kundakunda. Ed. A. N. Upadhye, Paramshruta Prabhavak Mandal, Rajachandra Jain Shastramala Agasa, (1st edn., 1911) 4th edn. 1984, *gāthā*-15.
9. *Ibid, gāthā*-12.
10. *Tattvārthasūtra* of Umāsvāti, op. cit., verse 5/31.

11. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, op. cit., p. 302.
12. *Bhagavaī*, Ed. Ācārya Mahāprajña, Ladnun : Jain Vishva Bharati, Vol.-I, 2005, 7.2.273.
13. *Pravacanasāra* of Kundakunda, Commentry by Amṛtacandra *op. cit.*, verse 2.9, p. 126.
14. *Ibid*, verse 2.11, p. 129.
15. *Ibid*, verse 2.12, p. 130-131.
16. *Bhagavaī*. Ed. Ācārya Mahāprajña, op. cit., p. 187.
17. *Sabhāṣya Tattvārthādhigama Sūtra* of Umāsvāti, Ed. Khubachandra Shri, Paramshruta Prabhavaka Mandal, Agas, 3rd edn., 1992, 5.30.
18. *Sabhāṣya Tattvārthādhigama Sūtra*, 5.30, p. 279.
19. *Viśeṣāvaśyaka-Bhāṣya* of Jinabhadra Gaṇi, Ed. Dalsukh Malvania and Bechardasji, Vol. 1, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1968, verse 1340.
20. *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra, verse 3.60.
21. *Sanmati Tarka* of Siddhasena Divākara, Ed. Sukhalalji Sanghavi and Pandita Bechardasji, with a critical introduction and an original commentary, Ahmedabad, L.D. Institute of Indology(1st edn., 1939 A.D.), 2000.3.36, 37.
22. *Syādvādamañjarī* of Malliṣeṇa Sūri, Ed. Jagadish Chandra Jain, Paramshruta Prabhavak Mandal, Agasa, 1910, p. 198.
23. *Āptamīmāṁsā*, 3.59
24. *Ibid* ,3.60
25. *Syādvādamañjarī* of Malliseṇa Sūri, op. cit., p. 198.
26. *Ibid*, p. 198
27. Devendra Muni Shastri, *A Source Book in Jain Philosophy*, English trans. T.G. Kalghatgi, Udaipur : Sri Tarak Guru Jain Granthalaya, (1st edn.) 1983, p. 58.
28. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, op. cit.,5.30, p. 230.
29. *Pravacanasāra* of Kundakunda, Commentry by Amṛtacandra op. cit. *gāthā*-8, p. 125.
30. *Ibid*, p. 12.4
31. *Pravacanasāra* of Kundakunda, op. cit., verse 125.
32. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda Op. cit. 5.30, p. 230.
33. *Syādvādamañjarī* of Malliṣeṇa Sūri, p. 130.
34. Quoted also in the comm. to *Pramāṇanaya-tattvālokālaṅkāra*, V.8, *Sarvārthasiddhi* 5/30. Op. cit., p. 230.

35. *Sabhāṣya Tattvārthādhigama Sūtra* of Umāsvāti, *Sūtra*-5/30, p. 278.
36. *Sanmati Tarka* of Siddhasena Divākara, verse 1.18-20.
37. *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra Op. cit., p. 3.40.
38. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, Op. cit., 5.31, p. 156.
39. *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra, Op. cit., *gāthā*-3.41.
40. *Ibid, gāthā* 3.43.
41. *Syādvād-mañjarī* of Mallisena Sūri, *kārikā* 27.
42. *Anyayogavacchedikā, kārikā*-18.
43. *Pramāṇa Mīmaṁsā* of Hemacandra.Ed. Sukhlalji Sanghavi and others, Ahmedabad : Saraswati Pustak Bhandar, Saraswati Oriental Series No.-1. IInd edn. 1989, 1.1.32.
44. *History of Indian Philosophy.* S. N. Dasgupta, vol.-I, p. 155.
45. *Pramāṇa Mimāṁsā* of Hemacandra, op. cit., *sūtra*-31, 32, p. 25.
46. *Dravyaparyāyātmartho....., atyantabhedabhedau na tadvato,* Akalaṅka's Granthatraya, p. 48.
47. *Atyantabhedabhedau na tadvato,* Akalaṅka's Granthatraya, p. 48.
48. *Syādvāda-Mañjarī* of Mallisena Sūri, Ed. Jagadish Chandra Jain, op. cit., p. 30.
49. *Ibid,* op. cit., p. 32.
50. *Arthakriyāsāmarthyāt, tallakṣaṇatvād vastunaḥ, Pramāṇa-Mimāṁsā,* Hemacandra, 31, 32, p. 25.

Bibliography :

1. *Āpta-mimāṁsā* of Samantabhadra, edited with introduction, Translation, Notes and an original commentary in English by Saratchandra Ghoshal, Bharatiya Jnanapith, Delhi 1st edn. 2002.
2. *Bhagavaī*, Vācanā Pramukha Ācārya Tulsi, ed. by Ācārya Mahāprajña, Jaina Vishwa Bharati, Ladnun, Rajasthan, Vol. I, 1st edn. 2005.
3. *Pancāstikāya* of Ācārya Kundakunda, with *Tattva-pradīpikā - Tātparyavṛtti,* Paramshrut Prabhavak Mandal, Agas, Gujarat,

(1st edn. 1988), 4th edn. 1986.

4. *Pancāstikāyasāra* of Kundakunda, Translated and ed. by A. Chakravarti with Prakrit text, Sanskrit chāyā, English and historical introductions, Bharatiya Jnanapith Publication, Jnanapith Murtidevi Granthmala, Series no. 4, New Delhi, 1975.
5. *Pravacanasāra* of Kundakunda, ed. by A.N. Upadhye, Paramshruta Prabhavak Mandal, Rajachandra Jain Shastramala, Agas, Gujarat (1st edn. 1911) 4th edn. 1984.
6. *Pramāṇa-Mimāṁsā* of Hemacandra, ed. by Sukhlalji Sanghavi and others, Saraswati Pustak Bhandar, Saraswati Oriental Series no. 1, Ahmedabad, IInd edn., 1989.
7. *Sabhāṣya Tattvārthādhigama Sūtra* of Umāsvāti, ed. by Khubachandra, Shri Paramshruta Prabhavak Mandal, Agas, 3rd edn. 1992.
8. *Saḍdarśana Samuccaya* of Haribhadra Sūri ed. by Mahendra Kumar Jain, Bharatiya Jnanapith Publication, Delhi, 1981.
9. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, a commentary on *Tattvārtha-sūtra*, edited and translated by Phoolchandra Shastri, Bharatiya Jnanapith, Murtidevi Jain Granthamala, Sanskrit Series-13, Delhi, 13th edn., 2005.
10. *Sanmati Tarka* of Siddhasena Divākara, ed. by Sukhlalji Sanghavi and Pandita Bechardasji, with a critical introduction and an original commentary, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, (Ist edn. 1939 A.D.) 2000.
11. *Syādavād-Mañjarī* of Malliṣeṇa Sūrī, with Hindi Translation by Jagadish Chandra Jain, Paramshruta Prabhavak Mandal, Agas, Gujarat, 1st edn., 1910
12. *Tattvārthasūtra* of Umāsvāti /Umāsvāmī, English translation by Nathmal Tatia under the title *'That which is'* with the combined commentaries of Umāsvāti/Umāsvāmī, Pūjyapāda and Siddhasena Gaṇi, Collins Publications, America, 1994.

13. *Tatvārtharājavārtika* of Akalṅka, ed. by Mahendra Kumar 'Nyayacharya', Vol. II, Bhartiya Jnanapith Prakashan, Delhi, IInd edn., 1999.

14. *Viśeṣāvaśyaka-Bhāṣya* of Jinabhadra Gaṇi Kṣamāśramaṇa, Ed. by Dalsukh Malvania and Bechardasji, Vol. 1, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad,1st edn. 1968.

General Books :

15. Dasgupta, S. N., *History of Indian Philosophy*, Vol. I-IV, Cambridge University Press, Cambridge, 1952.

16. Jain, S.A., *Reality*, English translation of Shri Pūjyapāda's *Sarvārthasiddhi*, Vira Shasana Sangha, Calcutta, 1960.

17. Kalghatgi, T.G., *A Source Book in Jaina Philosophy*, translation from Devendra Shastris, *Jaina Darśana Kā Svarūpa*, Sri Tarak Guru Jain Granthalaya, Udaipur, 1st edn. 1983.

18. Muni Nathmal, *Jain Darśana Manana aura Mīmāṁsā*, Adarsha Sahitya Sangha, Churu, Rajasthan, (1st edn. 1969), 4th edn. 1995

19. Padmarajiah, Y.J., *Jaina Theories of Reality and Knowledge*, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay, 1963.

20. Sikdar, J.C., *Jain Theory of Reality*, ed. by Sagarmal Jain, P.V. Research Institute, Series no. 58,1st edn. 1991.

21. Satkari, Mookerjee, *Illuminator of Jaina Tenets*, Translation of *Jain Siddhānta Dīpikā* of Ācārya Tulsi, Anekant Shodhapitha, JVB., 1995.

22. Shastri Devendra Muni, *Jaina Darśana Kā Svarūpa Aura Viśleṣaṇa*, text translated under the title,-*A Source Book in Jain Philosophy'*, Sri Tarak Guru Jain Granthalaya, Udaipur, 1st edn. 1983.

23. Thomas, F.W., *The Flower Spray of the Quodammodo Doctrine*, translation from Malliṣeṇa Suri's *Syādvāda Mañjarī*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1968.

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

Advertisement

ISJS-PV Global Centre for Research in Ahiṁsā & Indic Studies

The Centre was set up in 2010 as a joint venture of International School for Jain Studies and Parshwanath Vidyapeeth. One of the objectives of the centre is to encourage research by eminent scholars (faculty members of their sabbatical or research projects or Holders of research grants/scholarship) from overseas and India to avail of the excellent facilities (board/lodge, library, internet access and proximity to world famous Banaras Hindu University, Holy shrines of all Indian religions) in conducting their research of Indology including Jainology and *ahiṁsā*.

The facilities offered are extremely cost effective in a mango groove campus with modern living facilities. Further the academic staff of Parshwanath Vidyapeeth is easily accessible for any assistance in conducting research at the centre. For details of ISJS and Parshwanath Vidyapeeth, please visit www.isjs.in and www.pv-edu.in

Terms of offer for sue of these facilities have been made extremely cost-effective to encourage and promote research in the identified subjects. Details of the offer are as follows:

Minimum period of stay: **Three months**

Academic requirements: At least one paper will be submitted to ISJS-PV centre for publication in their house quarterly journal *Śramaṇa*. Similarly the scholar will deliver at least one talk during his/her stay to the centre's monthly lecture series.

Accommodation: Single occupancy, western toilet attached room (without AC) and three meal (breakfast, lunch and dinner) per day: US$ 175 per month per person or INR 9000 per person per month for Indian scholars.

Accommodation: Double occupancy, western toilet attached room (without AC) and three meals per day: US$ 125 per month per person or INR 6000 per person per month for Indian scholars.

Accommodation: If air conditioned room is required, then an additional charge of US$ 100 per person per month or INR 5000 per person per month will be charged.

Other facilities : Use of office Car: INR 12 per KM (from centre to centre) and additional INR 40 per hour for waiting if needed.

Tea, coffee, mineral water, *dhobi* (washerman) for washing clothes, cleaning of the rooms, changing bed linen (more than twice a week) shall be levied as per the rates displayed at the centre. These services are offered on no profit no loss basis.

Our Mission

Inspired by the vision of Lord Mahāvīra, the Centre is established to propagate his teachings and their relationships with people of all religions, faiths, assisting them in understanding the context in which they live, and empower them to respond appropriately to the challenges of creating and nurturing a compassionate, just and inclusive society.

We achieve our Mission by:

* Conducting research on Jainism and its allied subjects and sharing the results of the research through written materials and educational programs;
* Reflecting on how the Jainism should urge us to

respond prime issues of society through dialogue and Jain art of living.

* Raising awareness on current issues of concern like cruelty, violence, distress, religious intolerance in society. through workshops, seminars and public forums, and by disseminating relevant information;
* Networking with individuals and organizations like ISJS that share similar objectives.

Infrastructure:

With lush greeneries surrounded by mango clusters Parshwanath Vidyapeeth has much potential and infrastructure necessary to organize such type of courses viz. computers, 24 hours Internet facility, Guest Houses (AC & Non-AC), Mess (for pure Vegetarian Food), a Library containing 35,000 Books and hundreds of periodicals and manuscripts and peaceful academic environment for study purposes. This learning environment exposes students to different cultures, and enables them to gain a new perspective and develop interpersonal skills and knowledge required to learn the philosophy of non-violence.

Qualification:

Affiliation to an accredited institution of higher learning.

*(Registration form can be downloaded from the website: **www.pv-edu.in**)*

'राष्ट्रीय मानव-संस्कृति सेवां संस्थान, वाराणसी द्वारा आयोजित पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला सम्पन्न

दिनांक 25 नवम्बर से 9 दिसम्बर 2012 तक पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रांगण में डॉ. अशोक कुमार सिंह के संयोजन में राष्ट्रीय मानव-संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा **'बौद्ध विद्या के विविध आयाम, गाँधी-विचार एवं विश्वशांति'** विषयक 15 दिवसीय राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन हुआ। इस कार्यशाला में विषय के विद्वानों द्वारा बौद्ध धर्म-दर्शन, गाँधी-विचार एवं विश्वशान्ति पर व्याख्यान एवं परिचर्चा हुई।

****

साहित्य-सत्कार

पुस्तक समीक्षा

1. जैन आगमों में मध्यलोक

लेखक एवं सम्पा.- श्री विमल कुमार नवलखा, जैन मुनि कन्हैयालाल 'कमल' स्मृति ट्रस्ट-आबू पर्वत (राज.), 2010, सजिल्द पृष्ठ सं. 204, मूल्य 100 रुपये मात्र।

जैन आगमों में भूगोल-खगोल सम्बन्धी विषयों का बृहद् संकलन गणितानुयोग नामक ग्रन्थ में हुआ है। सरल भाषा में इसका एक संक्षिप्त संस्करण श्री विमल कुमार नवलखा द्वारा उपयुर्क्त शीर्षक से किया गया है। गणितानुयोग को मुख्य आधार मानकर प्रस्तुत ग्रन्थ को तुलनात्मक प्राणभूत बनाने के लिए अनुयोगद्वार, ठाणांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, जीवाजीवाभिगम, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, ज्ञाताधर्मकथा, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम सूत्रों तथा त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती, जैनतत्त्वप्रकाश, गणित सार संग्रह, लघुक्षेत्र समास, गोम्मटसार, षट्खण्डागम, लोकप्रकाश आदि प्रमाणभूत ग्रन्थों से सामग्री संग्रहीत है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि 163 अध्यायों एवं 151 चित्रों के द्वारा इसमें आगमों का आधार लेकर क्रमबद्ध लेखन किया गया है। यह भौगोलिक ग्रन्थ जैन समाज का अनमोल खजाना है, यह कोई सामान्य पुस्तक नहीं वरन् एक अनमोल कृति है। इस दृष्टि से यह कृति पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ. राहुल कुमार सिंह

रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

2. सन्मति-तर्कप्रकरणम (भाग-1)

सूत्रकार- सिद्धसेन दिवाकर, वृत्तिकार-तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरी, हिन्दी विवेचन-आचार्य जयसुन्दरसूरी, प्रका.- दिव्यदर्शन ट्रस्ट, कलिकुण्ड, धोलका -387810, पृ.-661, मू.-60 रुपये मात्र (प्रत्येक भाग)।

प्रस्तुत पुस्तक सन्मतितर्कप्रकरणम् हिन्दी विवेचन समन्वित, तत्त्वबोधविधायिनी

टीका से अलंकृत है। मूल पुस्तक पर वृत्तिकार तर्कपञ्चानन अभयदेवसूरीजी की तत्त्वबोधविधायिनी टीका प्राप्त होती है। पू. हरिभद्रसूरी से लेकर महोपाध्याय यशोविजय जी, श्री विजयकान्त सूरी आदि अनेक जैन विद्वानों ने इसका अध्ययन किया एवं अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ की गाथाओं का उद्धरण करके इस ग्रन्थरत्न का गौरव बढ़ाया। इस ग्रन्थरत्न के अध्ययन के बिना द्रव्यानुयोग में गीतार्थता अपूर्ण रहती है। इस ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए पूज्यवर आचार्य जयसुन्दरसूरी जी ने तत्त्वबोधविधायिनी टीका से अलंकृत करके सर्वप्रथम हिन्दी विवेचन सहित प्रथम भाग को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत कर एक महनीय कार्य किया है। प्रस्तुत प्रथम खण्ड में प्रामाण्यवाद, वेदपौरुषेयवाद, शब्दनित्यत्वसिद्धिपूर्वपक्ष, सर्वज्ञतावाद, ज्ञानस्वप्रकाशवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद समालोचना, समवाय समीक्षा, आत्मविभुत्व स्थापन, मुक्तिस्वरूप मीमांसा जैसे गुरुत्तर विषयों का प्रतिपादन एवं अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तर्कपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत पुस्तक अन्यान्य दर्शनों का बोध एवं जैन दर्शन के तत्त्वों के बारे में सही मान्यता तथा विश्व को जैन धर्म की विशिष्ट देन अनेकान्तवाद का सम्यक् बोध कराती है। पुस्तक के अंत में सुदीर्घ परिशिष्ट एवं शुद्धिपत्रक इस ग्रन्थ की गरिमा को बढ़ा रहें हैं। ग्रन्थ में सर्वत्र समीक्षात्मकता दृष्टिगोचर होती है। जैन दर्शन में प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा, अनेकान्तवाद आदि को समझने के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी तथा शोधार्थियों के लिए पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ. नवीन कुमार श्रीवास्तव
रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

****

साभार प्राप्ति

पार्श्वनाथ विद्यापीठ को निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुईं -
लब्धि विक्रम गुरुकृपा प्राप्त प्रतिष्ठाचार्य प.पू. आचार्य राजयशसूरीश्वर जी म. सा. द्वारा प्रदत्त

1. हम कितने शाकाहारी ???
प्रका.- विश्व प्राणी कल्याण मण्डल, बेंगलोर।

2. प्रभात की प्रार्थना यानी श्री भक्तामर स्तोत्र
सम्पा.–पू. आ. देव श्रीमद् विजय राजयशसूरीश्वर जी म. सा., प्रका.– श्री लब्धि विक्रम संस्कृति केन्द्र, टी/7/ए, शांतिनगर, विक्रमसूरीश्वर जी मार्ग, आश्रम रोड, अहमदाबाद, मूल्य– 3 रुपये मात्र।

3. विनय प्रभावना
प्रका.– श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी बावीस सम्प्रदाय जैन संघ (ईष्ट), बेंगलोर।

4. अहिंसा ही मामृतम्
सम्पा. एवं-लेखक–श्री विजय राजयशसूरीश्वर जी म. सा. प्रका.–सुरेश कांकरिया, नं.-7 सेम्बुदोस मार्ग, चेन्नई ।

मुनि प्रशरमरति विजयजी महराज साहब द्वारा प्रदत्त

5. श्री व्यवहारसूत्रम् पीठिका (भाग-1–6)
सम्पा.–आचार्य विजय मुनिचन्द्रसूरिः, प्रका.– आचार्यश्री ॐकारसूरीज्ञानमंदिर सुभाषचौक, गोपीपुरा, सूरत।

6. प्रसंग रंग (गुजराती)
सम्पा.– मुनिचन्द्रसूरिः, प्रका.– आचार्यश्री ॐकारसूरीज्ञानमंदिर सुभाषचौक, गोपीपुरा, सूरत।

7. उपदेश सप्तति, भाषान्तर (गुजराती)
लेखक- श्री सोमधर्मगणि, सम्पा.–पू. मुनिराजश्री पुण्यकीर्ति वी.म.सा., प्रका.– सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, मूल्य– 115 रुपये मात्र।

8. जैन पर्व-प्रवचन

लेखक- पू. पंन्यासप्रवर श्री रत्नसेनविजयजी गणिवर्य, प्रका.–दिव्य संदेश प्रकाशन, 47, कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5, डॉ. एम. बी. वेल्कर लेन, ग्राउन्ड फ्लोर, मुम्बई, मूल्य– 60 रुपये मात्र।

9. श्री नवपद मन्जुषा (गुजराती)

सम्पा.- परम विद्वान् स्वाध्यायमग्न श्री वी. खमितयश सूरीश्वरजी म.सा.
प्रका.– सोहनलालजी आनन्दकुमारजी तालेजा, महेन्द्रा ज्वेलर्स बेंगलोर,
मूल्य– 90 रुपये मात्र।

****

ADVERTISEMENT

ISJS-PV Global Centre for Research in Ahiṁsā & Indic Studies

Established in 2010, **ISJS-PV Global Centre** invites application from eminent scholars (faculty members of their sabbatical or research projects or Holders of research grants/scholarship) from overseas and India to avail of the excellent facilities (board/lodge, library, internet access and proximity to world famous Banaras Hindu University, Holy shrines of all Indian religions) in conducting their research of Indology including Jainology and *ahiṁsā*.

Terms of offer for sue of these facilities have been made extremely cost-effective in a mango groove campus with modern living facilities. Details of the offer are as follows:

Minimum period of stay: Three months

Academic requirements: At least one paper will be submitted to ISJS-PV centre for publication in their house quarterly journal *Śramaṇa*.

Accommodation: Single occupancy, western toilet attached room (without AC) and three meal (breakfast, lunch and dinner) per day: US$175 per month per person or INR 9000 per person per month for Indian scholars.

Double occupancy, western toilet attached room (without AC) and three meals per day:US$ 125 per month per person or INR 6000 per person per month for Indian scholars. For air conditioned room is required, then an additional charge of US$ 100 per person per month or INR 5000 per person per month will be charged.

Infrastructure: Computers, 24 hours Internet facility, Guest Houses (AC & Non-AC), Mess (for pure Vegetarian Food), a Library containing 35,000 Books and hundreds of periodicals and manuscripts and peaceful academic environment for study purposes.

Qualification:

Affiliation to an accredited institution of higher learning.

For details of ISJS and Parshwanath Vidyapeeth, please visit **www.isjs.in** and www.pv-edu.in. (Registration form can be downloaded from the website : **www.pv-edu.in**)

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5